इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MSK-007
साहित्यशास्त्र : काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक और दशरूपक

साहित्यशास्त्र : काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक और दशरूपक

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रोफेसर रमेश कुमार पाण्डेय कुलपति,श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय नई दिल्ली	प्रोफेसर राधावल्लभ त्रिपाठी पूर्व कुलपति केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	प्रोफेसर रमाकान्त पाण्डेय केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर; राजस्थान
प्रोफेसर अभिराज राजेन्द्र मिश्र पूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	प्रोफेसर दीप्ति त्रिपाठी पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	प्रोफेसर मालती माथुर निदेशक मानविकी विद्यापीठ इग्नू

कार्यक्रम संयोजकः प्रोफेसर कौशल पंवार, संस्कृत संकाय, मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखक	इकाई संख्या	पाठ्यक्रम संयोजक एवं सम्पादक
डॉ0 शरदिन्दु कुमार तिवारी एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत विभाग, कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय , वाराणसी	खण्ड –01 इकाई– 01 से 05 (पॉच)	**डॉ0 देवेश कुमार मिश्र** इन्दिरा गॉधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रोफेसर सुमन कुमार झा लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	खण्ड – 02 इकाई– 07 से 13 (तेरह)	
डॉ0 रामरतन खण्डेलवाल संस्कृत विश्वविद्यालय हरिद्वार, उत्तराखण्ड	खण्ड–03 इकाई– 14 से 17 (सत्रह)	
डॉ0 मनोज किशोर पन्त संस्कृत विश्वविद्यालय हरिद्वार, उत्तराखण्ड	खण्ड– 03 इकाई–18 से 21 (इक्कीस)	
डॉ0 देवेश कुमार मिश्र एसोसिएट प्रोफेसर इन्दिरा गॉधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली	खण्ड 04 इकाई– 22 से 26 (छब्बीस)	

श्री तिलक राज
सहायक कुलसचिव, इग्नू नई दिल्ली

जनवरी, 2022

ISBN:

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी नई दिल्ली–110068 से अथवा इग्नू की आधिकारिक वेबसाइट www.ignou.ac.in से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ द्वारा मुद्रित और प्रकाशित ।

लेज़र टाइप सेट–टेसा मीडिया एण्ड कम्प्यूटर्स

मुद्रण –

विषय सूची

पाठ्यक्रम परिचय

स्नात्तकोत्तर कला उपाधि संस्कृत कार्यक्रम में द्वितीय वर्ष के अन्तर्गत संचालित एम0एस0के0 (MSK-007) नामक पाठ्यक्रम का आप अध्ययन करने जा रहे हैं। इस पाठ्यक्रम का नाम ''साहित्यशास्त्र'', काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक और दशरूपक है। इसके अध्ययन के लिए आपको **26 इकाइयों** में लिखित विषयों का अध्ययन करना है। **8 क्रेडिट** के इस पाठ्यक्रम का विभाजन चार खण्डों में किया गया है। सम्पूर्ण पाठ्यक्रम में आप भारतीय काव्यशास्त्र के तत्वों का अध्ययन करेगें। **चार खण्डों में** विभाजित इस पाठ्यक्रम के रूप रेखा की जानकारी इस प्रकार है–

प्रथम खण्ड में आप **छः इकाइयों** के भीतर काव्यप्रयोजन, काव्य हेतु, काव्यलक्षण, काव्यभेद, शब्द और अर्थ का स्वरूप तात्पर्यार्थ से लेकर अभिधा, लक्षणा और व्यजंना की जानकारी प्राप्त करते हुए, वाक्यदोष,रसदोष, काव्यगुण और कुछ प्रमुख शब्दालंकारों, अर्थालंकारों का अध्ययन करेगें। छः इकाइयों में उक्त इन्हीं विषयों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय खण्ड में कुल **सात इकाइयॉ** हैं। यह खण्ड आचार्य आनन्दवर्धन रचित ध्वन्यालोक की प्रथम व चतुर्थ उद्योत के वर्ण विषय से सम्बन्धित हैं। इस खण्ड की प्रारम्भिक चार इकाईयों तक ध्वन्यालोक की कारिका एक से लेकर उन्नीसवीं कारिका तक के विषयों को वर्णन में समाहित किया गया है। इसमें आप ध्वनि के लक्षण से लेकर रसवादी, अभाववादी मत की जानकारी करते हुए प्रतीयमान अर्थ आदि का अध्ययन करेगें।

तृतीय खण्ड दशरूपक के प्रथम द्वितीय और तृतीय उल्लास से सम्बन्धित है जिसमें **कुल आठ इकाइयों** में विभिन्न विषयों का समावेश है। प्रारम्भिक तीन इकाईयों में आप रूपक के भेद, रूपक के भेदक तत्व, कथावस्तु का स्वरूप व उसके भेद का अध्ययन करते हुए अर्थ पद्धतियों सहित पॉच प्रकार की कार्यावस्थाओं से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करेगें। नाटक में प्रयुक्त की जाने वाली संधियों तथा अर्थोपक्षेपक का वर्णन की इन्हीं तीन इकाईयों का भाग है। आगे की पॉच इकाईयों में नायक–नायिका भेद, इन दोनों के सहायक–सहायिकाएँ, नाट्यवृत्तियॉ, नाटक के आवश्ययक अंगों के विषय में जानकारी प्राप्त करने के बाद आप इस खण्ड की अन्तिम दो इकाइयों में लक्षण और उदाहरण सहित नाट्य के भेदों का विस्तार तक अध्ययन करेगें।

चतुर्थ खण्ड का नाम 'संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण' है। इस खण्ड में कुल **पॉच इकाइयॉ** हैं। इन इकाईयों में आप भरतमुनी, भामह, दण्डी, वामन,रुद्रट, उद्रभट, आनन्दवर्धन, कुन्तक,अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डित राज जगन्नाथ आदि के परिचय सहित काव्यशास्त्र में इनके द्वारा दिए गये योगदानों का अध्ययन करेगें। इस खण्ड की अन्तिम तीन इकाइयॉ काव्य शास्त्र के सम्प्रदायों के वर्णन से सम्बन्धित हैं। इनमें आप रस, अलंकार, त्रृति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य नामक छः सम्प्रदायों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् काव्य प्रकाश, ध्वन्यालोक और दशरूपक में वर्णित सिद्धान्तों के साथ–साथ संस्कृत काव्य शास्त्र के विभिन्न आचार्यो का परिचय और छः सम्प्रदायों के बारे में उल्लेख कर सकेगें।

खण्ड 1

काव्यप्रकाश (मम्मट) 1–4,7–10 उल्लास

खण्ड 1 परिचय

साहित्यशास्त्रः काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक और दशरूपक नामक पाठ्यक्रम के प्रथम खण्ड का आप अध्ययन करने जा रहे हैं। जिसमें काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास से चतुर्थ तक और सातवें उल्लास से दसवें उल्लास तक के विषयों का छः इकाइयों के वर्णन में समावेश किया गया है। काव्य का प्रयोजन उसका कारण, उसका लक्षण, प्रकार शब्द और अर्थ के स्वरूप, तात्पर्यार्थ, अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद का अध्ययन करने के बाद अभिधा, लक्षणा और व्यंञजना के विवेचन का अध्ययन करते हुए आप चौथी इकाई तक वाक्य दोष, रसदोष, गुण विवेचन का अध्ययन करेगें। पॉचवी इकाई में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरूक्तवदाभास नामक प्रमुख शब्दालंकारों के लक्षण व जानकारी प्राप्त करगें। इस खण्ड की अन्तिम इकाई में आपके के अध्ययन के लिए वक्रोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि कुल 12 प्रमुख अर्थालंकारों के लक्षण व उदाहरण प्रस्तुत किए गये हैं। इस प्रकार आप प्रथम खण्ड में छः इकाइयों के अन्तर्गत काव्यप्रकाश के उपर्युक्त वणनों की जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् मम्मट रचित विभिन्न सिद्धान्तों को समझा सकेगें।

इकाई 1 काव्य–प्रयोजन, काव्य–हेतु, काव्य–लक्षण और काव्य–भेद

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- मम्मट–प्रतिपादित षड्विध काव्य–प्रयोजनों के बारे में विस्तार पूर्वक जान सकेंगे।
- त्रिविध उपदेश शैलियों के बारे में जानेंगे।
- काव्य के त्रिविध हेतुओं के बारे में जान सकेंगे।
- दण्डचक्रादिन्याय से काव्य की कारणता को समझेंगे।
- मम्मट द्वारा प्रदत्त काव्य के स्वरूप को प्रतिपादित करने में समर्थ हो सकेंगे।
- अनलंकृत शब्दार्थ–युगल काव्य के उदाहरण को बताने में सक्षम हो सकेंगे।
- उत्तम काव्य किसे कहते हैं, इसके बारे में लक्षण एवं उदाहरण सहित समझ सकेंगे।

- इसी प्रकार मध्यम काव्य एवं अधम काव्य के लक्षण एवं उदाहरण को बताने में सक्षम हो सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

आचार्य मम्मट द्वारा विरचित काव्यप्रकाश अलंकार–शास्त्रीय ग्रन्थ है। अलंकार– शास्त्र का अपरनाम काव्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र भी है। इस ग्रन्थ का नाम काव्यप्रकाश है। अतः कवि का भाव काव्य, कवित्व, कविता अथवा कविकर्म क्या है? इन सबकों बताने से पूर्व ग्रन्थकार ने काव्यप्रयोजन का प्रतिपादन किया है। इसके साथ ही काव्य का कारण क्या है? किस प्रकार काव्य लोकोपकारक है? अतः काव्य के त्रिविध कारणों की चर्चा इस पाठ में आपको मिलेगी। काव्यप्रयोजन एवं कारण को प्रतिपादित करके पाठकों को ग्रन्थ के प्रति उन्मुख करके काव्य के स्वरूप की जिज्ञासा का समाधान किया गया है। काव्य स्वरूप के निरूपण के पश्चात् उत्तम, मध्यम एवं अधम काव्यों के लक्षण सहित उदाहरणों की चर्चा इस पाठ में प्राप्त होगी।

1.2 काव्य–प्रयोजन

प्रिय विद्यार्थियों! काव्य–प्रकाश के प्रथम उल्लास में मंगलाचरण के पश्चात् आचार्य मम्मट काव्य–प्रयोजन का उल्लेख करते हैं। यदि काव्य है तो काव्य का प्रयोजन अवश्य होगा क्योंकि **''प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते''** अर्थात् यदि किसी कार्य में कोई प्रयोजन न हो तो मन्द–बुद्धि वाला व्यक्ति भी उस में प्रवृत्त नहीं होता है। जब लोक में मन्दमति भी विना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करता है, फिर काव्य तो सहृदयों का विषय है। बिना प्रयोजन के सहृदय किसी काव्य में कैसे प्रवृत्त हो सकेगा? अतः कोई न कोई काव्य का प्रयोजन अवश्य होगा, यह काव्य का पहला सोपान है, इस पर आरूढ हुए बिना हम अग्रिम सोपान पर नहीं चढ़ सकते।

आचार्य मम्मट के पूर्व अथवा परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने भी काव्य–प्रयोजन के बारे में बताया है किन्तु आचार्य मम्मट ने बहुत व्यवस्थित ढंग से यहाँ कुल छः प्रयोजनो को बताया है–

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

1.2.1 काव्यं यशसे

अब पहला काव्य–प्रयोजन है **'यशसे'** अर्थात् काव्य–रचना अथवा अध्ययन क्यों किया जाए तो 'यश के लिए'। कैसे? तो स्मरण रहे कि 'यश' सदैव अक्षय होता है, इस पंचभौतिक नश्वर शरीर के समाप्त हो जाने के बाद भी 'यश' की उपस्थिति इस संसार में बनी रहती है। आचार्य भर्तृहरि 'नीतिशतकम्' में लिखते हैं कि–

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।।

अर्थात् अभिज्ञानशाकुन्तलम् आदि की रचना करने वाले रससिद्ध महाकवि कालिदासादि का यशः शरीर, जन्म–मृत्यु के भय से मुक्त है, आज भी व्यास, वाल्मीकि आदि ऋषियों की रचनाएँ इस संसार में पढी जा रहीं हैं। अतः काव्य–रचना यश को देने वाला है।

यह काव्य का पहला प्रयोजन हुआ कि काव्य से यश की प्राप्ति होती है। अब दूसरा प्रयोजन देखें।

1.2.2 काव्यम् अर्थकृते

द्वितीय प्रयोजन है **'अर्थकृते'** यहाँ अर्थ से तात्पर्य 'धन' से है, तो धन–प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन है। अब आपको जिज्ञासा हो रही होगी कि काव्य से धन–प्राप्ति कैसे संभव है? तो प्रिय छात्रों! आपको यह अवश्य जानना चाहिए कि प्राचीन काल में महाकविगण किसी न किसी राजा के आश्रय में रहते थे, वे अपनी कृतियों से राजा एवं जनता का मागदर्शन करते थे जिसके फलस्वरूप राजा, अपने कवि को प्रभूत धन एवं स्वर्णमुद्राएँ देता था, उसके अतिरिक्त आज भी पुस्तक प्रकाशित करने वाले प्रकाशन/संस्थाएँ लेखकों को रॉयल्टी देती हैं, जिससे उन्हें धन–प्राप्ति होती है। अतः काव्य से अर्थप्राप्ति होती है यह काव्य का 'दूसरा प्रयोजन' हुआ।

1.2.3 काव्यं व्यवहारविदे

अब तृतीय प्रयोजन है **'व्यवहारविदे'** यह प्रयोजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, काव्य का एक प्रयोजन व्यवहार का ज्ञान भी कराना है, जैसे रामायण हमें सिखाता है–

'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्।'

अर्थात् हमें राम आदि की तरह आचरण करना चाहिए रावण आदि की तरह नहीं। काव्य–नाटक आदि में जो चरित्र–चित्रण होता है, उससे भिन्न–भिन्न स्थितियों में पात्रों के परस्पर व्यवहार की शैली का परिज्ञान होता है; विशेषकर राजा आदि के साथ किस प्रकार का शिष्टाचार व्यवहार में लाना चाहिए, इस बात का परिज्ञान काव्यादि के द्वारा ही साधारण जनों को प्राप्त होता है। अतः लोक व्यवहार का ज्ञान कराना भी काव्य का प्रयोजन है।

1.2.4 काव्यं शिवेतरक्षतये

अब चतुर्थ प्रयोजन है **'शिवेतरक्षतये'** शिव का अर्थ है कल्याण, शिवेतर अर्थात् कल्याण से भिन्न अर्थात् अकल्याण (अनिष्ट) के नाश के लिए।

प्रिय छात्रों! इस प्रयोजन के दृष्टान्त के रूप में ग्रन्थकार ने 'मयूर'कवि को प्रस्तुत किया है। 11वीं, शताब्दी में 'मयूर' कवि राजा भोज के सभापण्डित थे और धारानगरी में रहते थे। एक प्रसिद्ध कथा के अनुसार 'मयूर' कवि को कुष्ठ रोग हो गया, इस अमंगल के निवारण हेतु उन्होंने 100 श्लोंको से भगवान् सूर्य की स्तुति की। कहते हैं कि इन श्लोकों द्वारा सूर्य की स्तुति कर 'मयूर' कवि ने कुष्ठ–रोग से छुटकारा पाया था, और वही स्तुति बाद में 'सूर्यशतकम्' इस नाम से प्रसिद्ध हुई। इसीलिए ग्रन्थकार ने उसे अनिष्टनिवारण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रिय विद्यार्थियों! आशा है आप इस प्रयोजन के अभिप्राय को समझ गए होंगे, अब हम अगले प्रयोजन के बारे में जानते हैं।

1.2.5 काव्यं सद्यः परनिर्वृत्तये

पंचम प्रयोजन है **'सद्यः परनिर्वृत्तये'** यह काव्य का ऐकान्तिक प्रयोजन है। यह केवल काव्य से ही सम्भव है। अतः यह **''सकलप्रयोजनमौलिभूतम्''** अर्थात् यह सभी प्रयोजनों में विशेष है। काव्य अथवा नाटक सुनने, देखने के साथ ही सद्यः आनन्द

को देने वाला होता है। सद्यः परिनिर्वृति अर्थात् काव्य के निर्माण अथवा पाठ के साथ ही जो एक विशेष प्रकार के आन्तरिक आनन्द की प्राप्ति होती वह अलौकिक आनन्दानुभूति ही काव्य का सबसे मुख्य प्रयोजन है। इस आनन्दानुभूति की वेला में पाठक संसार का और सब–कुछ भूलकर उसी काव्य–जगत् में तल्लीन हो जाता है। इस तन्मयता में ही उस अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। अतएव आचार्य मम्मट ने कारिका की वृत्ति में इस प्रयोजन के लिए **'विगलितवेद्यान्तरम्'** तथा **'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्'** इन दो विशेषणों को समाहित किया है।

1.2.6 काव्यं कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे, त्रिविध उपदेशशैली

अब छठा व अन्तिम् प्रयोजन है **'कान्ता–सम्मिततयोप– देशयुजे'** अर्थात् काव्य,कान्ता (स्त्री) के समान सरस शैली में अपने पाठकों को उचित–अनुचित का उपदेश प्रदान करता है। प्रिय विद्यार्थियों! आचार्य मम्मट ने 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' की व्याख्या करते हुए वेदादिशास्त्र तथा पुराण–इतिहास आदि से काव्य का भेद और उसकी उपयोगिता का प्रतिपादन बड़े अच्छे ढंग से किया है। काव्य की उपदेश–शैली वेद–पुराण–इतिहास से विलक्षण है। इस विलक्षणता को बताने के लिए ग्रन्थकार ने शब्दप्रधान, अर्थ प्रधान तथा रसप्रधान तीन तरह की उपदेशशैलियों की कल्पना की है, जिनको क्रमशः प्रभुसम्मित, सुहृत् सम्मित तथा कान्तासम्मित उपदेश कहते हैं। वेदादिशास्त्र, राजाज्ञाओं की तरह शब्दप्रधान होते है, जिनका अक्षरशः पालन अनिवार्य होता है, इसीलिए उन्हें प्रभुसम्मित उपदेश की कोटि में रखते हैं।

दूसरी उपदेश–शैली इतिहास–पुराण आदि की है। इनमें वेदादि शास्त्रों के समान शब्दों की प्रधानता नहीं होती है अपितु अर्थ पर विशेष बल दिया जाता है। इसलिए उनका अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं होता है अपितु उनके अभिप्राय का अनुसरण किया जाता है। इसको ग्रन्थकार ने 'सुहृत्सम्मित' शैली कहा है। जैसे कोई मित्र अपने मित्र को उचित कार्य को करने तथा अनुचित कार्य का परित्याग करने का उपदेश देता है, परन्तु उसका उपदेश राजाज्ञा के समान शब्द–प्रधान नहीं होता है। उसका तात्पर्य अर्थ में होता है, किन्तु काव्य की उपदेश–शैली इन दोनों से भिन्न होती है, उसमें न शब्द की प्रधानता होती है और न अर्थ की। वहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों गौण हो जाते हैं और केवल रस की प्रधानता होती है। इस शैली को मम्मट ने 'कान्तासम्मित' उपदेश शैली कहा है। स्त्री जब किसी कार्य में पुरूष को प्रवृत्त या किसी कार्य से उसको निवृत्त करती है तब वह अपने हाव भाव चेष्टा आदि से उसको सरस बनाकर ही उस प्रकार की प्रेरणा देती है। इसलिए इसको रस–प्रधान शैली कहा जा सकता है। आचार्य मम्मट ने काव्य की उपदेश–शैली को इस श्रेणी में रखा है।

प्रिय छात्रों! ये कुल छः प्रयोजन हैं, इन छः प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए हमें काव्य पढ़ना चाहिए, इन सभी प्रयोजनों की आवश्यकता मानवीय–व्यवहार में अपेक्षित है, और यदि हम काव्य पढेंगे तो सभी प्रयोजनों की सिद्धि एक ही जगह हो जाएगी। इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यें ने जिन काव्य–प्रयोजनों का प्रतिपादन किया था उनका और भी अधिक परिमार्जन करके आचार्य मम्मट ने प्रयोजनों का वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक निरूपण किया है।

1.3 काव्य–हेतु

प्रिय विद्यार्थियों! पिछले पाठ में हमने काव्य–प्रयोजनों के बारे में जाना, अब काव्य तथा उसके उपयोगी विषयों में अभिरूचि उत्पन्न करने के लिए काव्य के प्रयोजनों का

प्रतिपादन करने के पश्चात् ग्रन्थकार आचार्य मम्मट काव्य के प्रयोजक हेतुओं का वर्णन अधोलिखित कारिका में करते हैं–

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

अर्थात् कविता का **बीजभूत संस्कार–विशेष**, जो कवि में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है, ऐसी प्रतिभा को शक्ति कहते हैं, जिसके बिना काव्य की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। यदि शक्ति के बिना येन–केन प्रकारेण पादपूर्ति करके छन्द बनाकर, तुकबन्दी कर लेने मात्र से काव्य में चारूता नहीं आती है, इसलिए शक्तिहीन काव्य अन्ततोगत्वा उपहास के पात्र हो जाते हैं।

अब द्वितीय हेतु है **निपुणता**, जो लोक, शास्त्र, काव्य आदि के अवेक्षण (अच्छी तरह समझकर समीक्षण करना) से सम्भव है। प्रिय विद्यार्थियों ! लोक भी दो प्रकार का होता है स्थावर एवं जंगम। स्थावर अर्थात् वृक्ष, वनस्पतियाँ आदि, जंगम से अभिप्राय मनुष्य, पशु आदि से है। इन द्विविध लोकों के व्यवहार का सम्यक् ज्ञान, शास्त्र अर्थात् छन्द, व्याकरण, अभिधान कोश (अमरकोश आदि), कला (नृत्य–गीत आदि चौसठ कलाओं के प्रतिपादक लक्षण ग्रन्थ), चतुर्वर्ग– (धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष के प्रतिपादक ग्रन्थ) हाथी, घोड़े एवं खड्ग आदि के प्रतिपादक शास्त्रों के पर्यालोचन से एवं महाकवियों द्वारा रचे गए काव्यों के अध्ययन से, इतिहास आदि के सम्यक् अनुशीलन से उत्पन्न व्युत्पत्ति (विशिष्ट ज्ञान) निपुणता कहलाती है।

अब शक्ति एवं निपुणता दो हेतुओं के बारे में जानने के पश्चात् हमें तृतीय हेतु को भी जानना आवश्यक है, क्योंकि केवल शक्ति व निपुणता से काव्य सम्भव नहीं है इसीलिए आचार्य मम्मट ने तीसरा कारण **'अभ्यास'** को भी माना।

अभ्यास क्या है? निरन्तर काव्य–रचना में प्रवृत्त रहना,उसमें जो दोष आवें उन्हें परिमार्जित करना, यदि परिमार्जन स्वयं करने में अक्षम हैं तो काव्य को जानने व समझने वाले गुरूजनों से अपने काव्य को दिखाकर व सुनाकर परिमार्जन कराना।

इस प्रकार शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास ये तीनों मिलकर (समष्टिरूप से) अलग–अलग नहीं, उस काव्य की उत्पत्ति अर्थात् निर्माण और विकास में कारण हैं। प्रिय छात्रों! इतना अवश्य स्मरण रहे कि केवल शक्ति अथवा निपुणता अथवा अभ्यास से काव्य उत्पन्न नहीं होगा अपितु शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास तीनो मिलकर उस काव्य के कारण होंगे। इसीलिए ग्रन्थकार मम्मट ने कारिका में व वृत्तिभाग में **'इति हेतुस्तदुद्भवे'** यह प्रतिपादित किया है। **'तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।'** हेतु इस पद में एकवचन होने से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उक्त तीनों कारण मिलकर प्रवृत्त होंगे अलग–अलग नहीं। इस बात को और सरलता से समझने के लिए हमें दो न्याय को समझना पड़ेगा जो लोकव्यवहार से जुड़े हैं। पहला न्याय है 'तृणारणिमणिन्याय' अर्थात् अग्नि को उत्पन्न करने में तृण (तिनका), अरणि– मन्थन, मणि तीनों अलग–अलग कारण हैं, जैसे माचिस की तीली से भी आग उत्पन्न हो सकती है, अरणियों के मन्थन से भी आग सम्भव है, इसी तरह मणि भी दाहोत्पादन में समर्थ है। अभिप्राय यह है कि तीनों व्यष्टिरूप से कारण होने से सफल हैं।

1.3.1 दण्डचक्रादिन्याय

अब दूसरा न्याय है 'दण्डचक्रादिन्याय' अर्थात् जिस प्रकार एक घ़ड़े के निर्माण में दण्ड, चक्र, मृत्तिका, चीवर (धागा) सभी मिलकर कारण बनते है तभी घड़ा बन पाता है उसी प्रकार शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास तीनों मिलकर काव्य के उत्पत्ति में कारण बनते हैं।

प्रिय छात्रों! एक विशेष बात यह है कि आचार्य वामन ने भी इसी प्रकार (1) लोक (2) विद्या (3) प्रकीर्ण इन तीनों को काव्य का अंग, काव्य–निर्माण की क्षमता प्राप्त करने का साधन बतलाया है, किन्तु वामन ने काव्य–कारण को बताने के लिए काव्यालंकारसूत्र के प्रथम अधिकरण के तीसरे अध्याय के 20 सूत्रों में विशद विवेचन किया है, जिनको यहाँ आचार्य मम्मट ने केवल एक कारिका में कह दिया है।

वामन के पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने भी काव्य–साधनों का निरूपण लगभग उसी प्रकार से किया है।

1.4 काव्य–लक्षण

प्रिय विद्यार्थियों! वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने प्रथम उल्लास के द्वितीय कारिका में काव्य–प्रयोजन एवं तृतीय कारिका में काव्य–हेतुओं का सम्यक् विवेचन कर लेने के पश्चात् चतुर्थ कारिका में काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव–तीनों प्रकार के दोषों से रहित काव्य–लक्षण को प्रस्तुत करने में आचार्य मम्मट ने जो प्रयत्न किया है वह श्लाघनीय है। आचार्य मम्मट शब्द एवं अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य मानते हैं। केवल शब्द अथवा केवल अर्थ इनमें से कोई भी काव्य नहीं है। मम्मट का काव्य–लक्षण है–**''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।''** 'शब्दार्थौ तत्' अर्थात् 'शब्दार्थौ काव्यम्'। 'तत्' यह सर्वनाम पद पिछली 'काव्यं यशसे' इत्यादि कारिका में प्रस्तुत हुए काव्य–पद का परामर्शक है। शब्दार्थौ में द्वन्द्व समास है, शब्द और अर्थ दोनों प्रधान हैं। चमत्कारी अर्थ की अभिव्यंजना दोनों समान रूप से करते हैं। अतः 'शब्दार्थौ तत्' इसका अर्थ हुआ कि शब्द तथा अर्थ, ये दोनों मिलकर काव्यपदवाच्य होते हैं। 'शब्दार्थौ' इस द्विवचनान्त पद के तीन विशेषण पद उपर्युक्त लक्षण में प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य मम्मट ने बताया कि कैसे हैं वे शब्द और अर्थ तो अदोषौ, सगुणौ सालंकारौ एवं अनलंकृती पुनः क्वापि। अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों दोष रहित हो, दूसरी बात यह कि वे दोनों माधुर्य आदि काव्य–गुणों से युक्त हों, और तीसरी बात यह है कि प्रायः वे अलंकार सहित हों, किन्तु जहाँ कहीं रसादि की प्रतीति हो रही हो वहाँ उनके अलंकारविहीन होने पर भी काम चल सकता है। इस प्रकार इन तीन विशेषणों से युक्त शब्द तथा अर्थ की समष्टि का नाम काव्य है, यह ग्रन्थकार मम्मट का अभिप्राय है।

प्रिय छात्रों! यद्यपि आचार्य मम्मट के उत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने इस लक्षण का दोष–दिखाकर अक्षरशः खण्डन किया है, किन्तु यथार्थ दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो यह उतना दूषित लक्षण नहीं है, जितना विरोधी आचार्यों ने उसको दूषित करने का प्रयत्न किया है। आचार्य मम्मट के काव्य–लक्षण के गुण–दोष की मीमांसा करने से पूर्व उनके लक्षण को भली भांति समझ लेना चाहिए अन्यथा उसकी समालोचना और मीमांसा समझ में नहीं आ सकेगी।

इस प्रकार दोषों से रहित, माधुर्यादि काव्य–गुणों से युक्त और साधारणतः अलंकार सहित किन्तु कहीं–कहीं अलंकार–रहित शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य

कहते हैं। अब दोष, गुण, अलंकार किसे कहते हैं? तो इन सबकी चर्चा आगे क्रमशः सातवें, आठवें, नवें, दसवें उल्लास में विस्तारपूर्वक की जायेगी। 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस वाक्यांश में प्रयुक्त 'क्वापि' इस पद से ग्रन्थकार आचार्य मम्मट कहते हैं कि साधारणतः सब जगह अलंकारसहित शब्द एवं अर्थ होने चाहिए किन्तु जहाँ कहीं व्यङ्ग्य या रसादि की स्थिति विद्यमान हो वहाँ स्पष्ट रूप से अलंकार की सत्ता न होने पर भी काव्यत्व धर्म की हानि नहीं होती है। यथा–

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते
चोन्मीलित–मालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवाास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ,
रेवारोधसि वेतसीतरूतले चेतः समुत्कण्ठते।।

अर्थात् जिस प्रियतम पतिदेव ने विवाह के बाद मेरे कौमार्य को भंग किया था, चिर उपभुक्त मेरे कौमार्य का हरण करने वाले वे ही पतिदेव हैं, और आज फिर वे ही चैत्र मास की उज्ज्वल चांदनी से भरी हुई रात्रियाँ हैं। और वसन्त में खिलने वाले धूलि–कदम्बों की अत्यन्त कामोत्तेजक वायु बह रही है और मैं भी वही हूँ। अभिप्राय यह है कि चिर उपयुक्त होने से उसमें उत्कण्ठा होने का कोई अवसर नहीं है, फिर भी न जाने क्यों आज वहाँ नर्मदा के तट पर उस बेत के पेड़ के नीचे (जहाँ अनेक बार अपने पतिदेव के साथ सम्भोग कर चुकी हूँ) सम्भोग की उन काम–क्रीडाओं के लिए पुनः–पुनः चित्त उत्कण्ठित हो रहा है।

उक्त पद्य में कोई स्फुट रूप (स्पष्टतया) अलंकार नहीं है और रस के प्रधान होने से रसवदलंकार के रूप में उसको भी अलंकार नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह रसवदलंकार रसके गौण होने पर ही होता है किन्तु यहाँ रस की प्रधानता है। यद्यपि इस पद्य में विभावना या विशेषोक्ति या दोनों का संदेह संकर अलंकार निकाला जा सकता है, परन्तु ये अलंकार अभावमुखेन निकलते हैं इसलिए स्फुट नहीं हैं।

काव्यप्रकाशकार का यह लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' अन्य लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य कुन्तक ने जिस बात को कई कारिकाओं में कहा है, मम्मट ने इसे आधी कारिका में ही समाविष्ट कर दिया है। उसके साथ ही 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' पद जोड़कर उन्होंने काव्य–लक्षण का नवीन दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है, जिसका प्राचीन काव्य–लक्षणों में इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था। आचार्य मम्मट गुण तथा दोष के प्रश्न को भी सामने लाते हैं, क्योंकि शरीर के संस्कार में भी पहले दोषापनयनरूप संस्कार करने के बाद ही गुणाधानरूप संस्कार किया जाता है, तब इसके बाद अलंकार आदि का क्रम आता है। वह अगर न भी हो तो भी दोषापनयनरूप तथा गुणधानरूप संस्कार तो अपरिहार्य हैं। इसके बिना काम नहीं चलता। इसीलिए मम्मट ने काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ के 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' विशेषणों द्वारा इस द्विविध संस्कार की अपरिहार्यता का प्रतिपादन किया है और 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि लिखकर अलंकार की गौणता को सूचित किया है। इस प्रकार अल्प शब्दों में भाव–गाम्भीर्य के द्वारा मम्मट ने अपने काव्य–लक्षण को अत्यन्त सुन्दर एवं उपादेय बना दिया है।

अन्ततः निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि मम्मट का काव्यलक्षण सामाजिक तथा कवि दोनों दृष्टि से पूर्ण है, कृति और अनुभूति दोनों से सम्बन्ध रखने

वाला है। इसमें प्राचीन मतों का समन्वित रूप है। अलंकारवादी, रीतिवादी, वक्रोक्तिवादी, ध्वनिवादी सभी सम्प्रदायों के काव्य–लक्षण इसमें आ मिलते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणम् के 'निर्दोषं गुणवत्' आदि काव्यस्वरूप के साथ इसका अत्यधिक साम्य है। साहित्यदर्पणकार एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने इसकी कटु आलोचना अवश्य की है किन्तु वे इससे अधिक व्यापक और सर्वग्राह्य काव्य–लक्षण न दे सके। वस्तुतः तो काव्य का स्वरूप अलौकिक है, काव्य तो लोकोत्तरवर्णनानिपुण कविकर्म है।

1.5 काव्य–भेद

काव्य के प्रयोजन, उसके साधन तथा उसके लक्षण के निरूपण के बाद अब आचार्य मम्मट क्रम से काव्य के मुख्य तीन भेदों का निरूपण करते हैं। काव्यप्रकाशकार के द्वारा बताए गए मुख्य तीन काव्य भेद हैं– (1) उत्तम–काव्य (ध्वनि–काव्य) (2) मध्यम–काव्य (गुणीभूतव्यंग्य काव्य) (3) अधम–काव्य (चित्र–काव्य)।

1.5.1 उत्तमकाव्य (ध्वनिकाव्य)

इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।।

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत कारिका का अन्वयहै–

वाच्याद् व्यङ्ग्ये अतिशयिनि इदं (काव्यं) उत्तमं (तदेव) बुधैः ध्वनिः कथितः। अर्थात् यह (काव्य) वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) के बढ़ जाने पर अर्थात् अधिक चमत्कारपूर्ण होने पर उत्तम (काव्य) होता है एवं विद्वानों ने उसको ध्वनि (काव्य) कहा है।

कारिका में प्रयुक्त 'इदम्' शब्द का अभिप्राय 'काव्य' है। 'बुधै' का अभिप्राय यह है कि वैयाकरणों ने प्रधानभूत (मुख्य) स्फोट रूप जो व्यङ्ग्य उसके व्यंजक शब्द के लिए 'ध्वनि' इस शब्द का व्यवहार किया है। इसलिए उन वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले अन्य ध्वनिवादियों ने भी वाच्य (मुख्य) अर्थ को गौण (न्यग्भावित) कर देने वाले व्यङ्ग्य अर्थ की व्यंजना में समर्थ शब्दार्थयुगल के लिए 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार किया। प्रिय छात्रों! साहित्य जगत् में ध्वनिवादियों ने 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार वैयाकरणों का अनुसरण करके किया है। यहाँ बात यह है कि जिन घ् + अ + ट् + अ + (घट) आदि वर्णों का मुख से उच्चारण किया जाता है और श्रोत्र द्वारा श्रवण किया जाता है वे नाद या ध्वनि कहे जाते हैं। ये ध्वनियाँ शीघ्र ही विनष्ट हो जातीं हैं, इसलिए अनेक वर्णों के समुदाय रूप पद और पदों के समुदाय रूप वाक्य का निर्माण नहीं हो सकता फिर अर्थ बोध होना तो असम्भव है। इसलिए वैयाकरणों ने घ् + अ + ट् + अ आदि वर्णों के अतिरिक्त बुद्धि में स्थित एक स्फोट नाम का नित्य शब्द माना है। ये ध्वनियाँ उस स्फोटरूप नित्य शब्द को व्यक्त करती हैं (ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः) और स्फोट रूप शब्दात्मा (शब्दब्रह्म) अर्थ को प्रकट करता है (स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः)।

आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य–प्रकाश में ध्वनि शब्द का अर्थ है–व्यङ्ग्य प्रधान शब्दार्थयुगलरूप काव्य। (1) जिस प्रकार वैयाकरण प्रधानभूत स्फोट की अभिव्यक्ति करने वाले (वर्णों) को ध्वनि कहते हैं इसी प्रकार साहित्य–मर्मज्ञ अपने साक्षात् अर्थ (वाच्य) की अपेक्षा प्रधानभूत किसी व्यङ्ग्यार्थ की व्यंजना करने वाले शब्दार्थयुगलरूप काव्य को ध्वनि कहते हैं। (ध्वनति इति ध्वनिः) अथवा (2) जिस काव्य में वाच्यार्थ की प्रधानता होती है वहाँ शब्द और अर्थ अपने मुख्य स्वरूप को प्रकट करते हैं किन्तु जिस वाक्य में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ मुख्य (वाच्य) अर्थ

को तिरोहित कर देता है और अधिक चमत्कारकारी होता है ऐसे काव्य को 'ध्वनि कहते हैं, (ध्वन्यते व्यज्यतेऽस्मिनिति ध्वनिः)। अतएव आचार्य मम्मट ने व्यङ्ग्य प्रधान उत्तम काव्य को ध्वनि काव्य कहा है।

उत्तम–काव्य का उदाहरण है–

निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वीं तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।।

अर्थात् हे झूठ बोलने वाली (मुझ जैसे) प्रियजन की पीड़ा को न समझने वाली, दूती, तू तो यहाँ से बावड़ी पर स्नान करने के लिए गई थी, न कि उस अधम (नायक) के पास, क्योंकि तेरे स्तनों के कोर का चन्दन पूरी तरह छूट गया है, तेरे अधर की लालिमा साफ हो गई है, तेरे नयनों के कोने काजल शून्य हो चुके हैं और यह पतली काया अथवा कृश शरीर भी पुलकित हो गया है।

इस पद्य में प्रयुक्त विशेषण स्नान एवं सम्भोग दोनों में घटित होते हैं। परन्तु नायिका द्वारा अपने प्रियतम के लिए 'अधम' सम्बोधन तभी हो सकता है जब वह अन्य नायिका के साथ रमण करे। अतः तुम उस नायक के पास ही रमण करने गई थी यह मुख्यतया 'अधम' शब्द से व्यङ्ग्य अर्थ निकलता है।

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत पद्य में कोई विदग्धा नायिका अपनी दूती के अनुचित व्यवहार पर उसे ताड़ना (उलाहना) दे रही है कि तू बावड़ी पर स्नान करने गई थी, उस अधम के समीप नहीं गई। यह (निषेधरूप) इसका वाच्यार्थ है। स्नान की दशा का ही शब्दों द्वारा वर्णन किया गया है; किन्तु वक्ता, बोद्धा तथा अवसर–विशेष के अनुसार इस काव्य का यह अर्थ निकलता है कि–'वापी पर स्नान करने का तो बहाना है तू तो उस अधम के साथ रमण करने गई थी।

यही विधि रूप इसका व्यङ्ग्य अर्थ है। यह अर्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारी है। अतः यह ध्वनिकाव्य है। अधम पद का वाच्यार्थ है– दुःखदायक कर्म करने वाला (दुःखप्रयोजककर्मशील) किन्तु यहाँ विशेष वक्ता और बोद्धा के होने से अधम शब्द का व्यङ्ग्यार्थ 'अन्य नायिका–सम्भोग द्वारा वेदना उत्पन्न करने वाला' हो जाता है अतः प्रधानरूप से 'अधम' शब्द ही व्यंजक है। उसके साथ मिलकर 'चन्दन– च्यवन' आदि पद भी रमण दशा के द्योतक होते हैं। क्योंकि जिस प्रकार चन्दन–च्यवन आदि रमण के द्वारा हो सकते हैं, उसी प्रकार स्नान के द्वारा भी सम्भव है। अतः वे अधम पद के बिना स्वतन्त्र रूप से 'रमण' के व्यंजक नहीं; किन्तु 'अधम' शब्द स्वतन्त्र रूप से इस अर्थ का व्यंजक है। यही इसकी प्रधानता है।

1.5.2 मध्यमकाव्य (गुणीभूतव्यङ्गय काव्य)

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।

अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ के वैसा अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारजनक न होने पर मध्यम काव्य होता है। इसे ही काव्यतत्त्वज्ञों ने गुणीभूतव्यङ्ग्य कहा है। आचार्य मम्मट ने ऐसे काव्य को मध्यम काव्य कहा है, जिसमें व्यङ्ग्यार्थ होता तो है, किन्तु वह वाच्यार्थ से बढ़कर चमत्कारकारी नही होता। वाच्यार्थ से दबा रहता है, गौण होता है। वाच्यार्थ ही उसकी अपेक्षा सहृदयों को अधिक आनन्द प्रदान करता है। व्यङ्ग्यार्थ के

गौण हो जाने के कारण यह काव्य व्यङ्ग्यप्रधान ध्वनि काव्य से निम्न कोटि का माना गया है। क्योंकि ध्वनिवादियों ने व्यंजना को ही काव्य की उत्तमता का प्रयोजक माना है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इस काव्य को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नाम से ही अभिहित किया है। मम्मट ने इसकी संज्ञा 'मध्यम काव्य' कर दी। इस प्रकार उत्तम अर्थात ध्वनि काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता है। और मध्यम अर्थात गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में व्यङ्ग्यार्थ गौण हो जाता है और वाच्यार्थ अधिक चमत्कारकारक होता है।

मध्यम काव्य का उदाहरण–

ग्रामतरूणं तरूण्या नववंजुलमंजरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया।।

अर्थात "नवीन अशोक अथवा वेतस (वजुंल) की मंजरी से सुशोभित हाथ वाले, ग्राम के उस नवयुवक को बार–बार देखती हुई युवती के मुख की कान्ति अत्यन्त मलिन हो रही थी।"

यहाँ पर "वजुंललतागृह में मिलन का जिसने संकेत दिया था वहाँ तुम नहीं आई" यह व्यङ्ग्य अर्थ गौण (दब) गया है, क्योंकि इसकी अपेक्षा वाच्यार्थ (मुख की कान्ति का मलिन हो जाना) ही अधिक चमत्कारकारक है।

'ग्रामतरूणम्' आदि उदाहरण को आचार्य रूद्रट ने भावालंकार के उदारहण के रूप में अपने 'काव्यालकंार' ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। इस पद्य का व्यङ्ग्यार्थ सहृदयों के हृदय को इतना आह्लादित नहीं करता जितना कि 'मुखच्छायामालिन्यरूप' वाच्यार्थ करता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ विप्रलम्भाभास (श्रृगांर) आस्वादनीय है तथा 'संकेतभङ्ग जो व्यङ्ग्यार्थ है वह मुखमालिन्यरूप वाच्यार्थ (अनुभाव) के द्वारा ही विप्रलम्भाभास का पोषक है, स्वतन्त्र रूप से नही। अतः व्यङ्ग्य अर्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण हो गया है इसी से गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है।

1.5.3 अधमकाव्य (चित्र–काव्य)

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।

अर्थात व्यङ्ग्यार्थ से रहित 'शब्द–चित्र' तथा 'अर्थ–चित्र' दो प्रकार का अधम काव्य कहा गया है।

प्रिय विद्यार्थियों! इस कारिका में प्रयुक्त 'चित्र' शब्द से तात्पर्य गुण तथा अलंकार से युक्त होने से है। अव्यङ्ग्य का अभिप्राय स्पष्टरूप से प्रतीयमान व्यङ्ग्य अर्थ से रहित काव्य है। अवर का अर्थ अधम है।

शब्द चित्र का उदाहरण देते हैं–

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा
मूर्च्छन्मोह–महर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्।।

अर्थात् स्वच्छन्द रूप से उछलती हुई, अच्छ अर्थात् निर्मल और किनारे के गड्ढों मे अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली जो जल की धारा उससे जिनके अज्ञान का नाश

हो गया है ऐसे महर्षियों के द्वारा जिसमें आनन्दपूर्वक स्नान तथा सन्ध्या–वंदन आदि कार्य किए जा रहे हैं ऐसी मन्दाकिनी (गंगा) तुम्हारी मन्दता अर्थात् अज्ञान अथवा पाप को सद्यः दूर करें। इस प्रकार मन्दाकिनी के महर्षिजनसेव्यत्व का प्रतिपादन कर अन्य तीर्थों की अपेक्षा उसका महत्त्व प्रदर्शित किया है। आगे अन्य नदियों से उसकी श्रेष्ठता दिखलाते है। जिनमें बड़े–बड़े मेढक दिखलाई पड़ रहे हैं, इस प्रकार की कन्दराओं से युक्त और दीर्घकाय एवं अदरिद्र अर्थात् बड़े ऊँचे तथा शाखा, पत्र–पुष्प आदि से लदे हुए जो वृक्ष उनके गिरने के कारण ऊपर उठने वाली बड़ी–बड़ी लहरों से अत्यन्त गर्वशालिनी गंगा तुम्हारे पाप या अज्ञान आदि को तुरन्त नष्ट करें।

उक्त पद्य में कहीं भी व्यङ्ग्य–अर्थ नहीं है, यहाँ केवल शब्दों का अनुप्रासजन्य चमत्कार है, अतः यह शब्द–चित्र का उदाहरण है।

अर्थ–चित्र का उदाहरण–

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती।।

अर्थात् शत्रुओं का मान–मर्दन करने वाले जिस दैत्यराज हयग्रीव को अपने राजप्रासाद से, विना किसी उद्देश्य से यों ही निकला हुआ सुनकर घबराहट के साथ इन्द्र ने जिसकी अर्गला गिरा दी है ऐसी अमरावती मानों भय के कारण आखें बन्द की हुई सी प्रतीत होती है।

प्रस्तुत पद्य काश्मीरिक मेण्ठकवि प्रणीत 'हयग्रीववध नाटक' से आचार्य मम्मट ने लिया है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यहाँ हयग्रीव का वीररस व्यङ्ग्य है,उसी के विभावादि की इस काव्य में योजना की गई है तथापि कवि का तात्पर्य विशेषरूप से उत्प्रेक्षा नामक अर्थालंकार के ही आश्रित है और कोई भी स्फुटतया प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ यहाँ नहीं है इसे अर्थचित्र या वाच्यचित्र ही कहा गया है।

1.6 सारांश

प्रयोजन–युक्त विषय में ही मानव की प्रवृत्ति देखी जाती है। मंदबुद्धि व्यक्ति भी निष्प्रयोजन किसी भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है। अतः किसी चेतन को काव्य में प्रवृत्त करने के लिए आचार्य मम्मट ने काव्यप्रयोजनों का निरूपण इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही किया है। काव्य–रचना से यश प्राप्त होता है, जैसे कालिदास आदि का यश है। इसी प्रकार धावक आदि कवियों की तरह धनप्राप्ति, लौकिक व्यवहारों का ज्ञान एवं मयूर–कवि आदि की तरह अमंगलनाश होता है। इन काव्य–प्रयोजनों से विशिष्ट एक मुख्य प्रयोजन 'सद्यः परनिर्वृति' का निरूपण अपरिहार्य बताया गया है। कवि और पाठक के नानाविध प्रयोजनों के साधक काव्य का क्या कारण है इस जिज्ञासा की शांति के लिए–शक्ति, लोकशास्त्र, काव्यादि के विमर्श से उत्पन्न, निपुणता, निरन्तर काव्यपण्डितों के उपदेशों से प्राप्त अभ्यास ही मिलकर काव्यनिर्माण में कारण बनते हैं। भामह, आनन्दवर्धन आदि आचार्यों के काव्य–लक्षणों के मध्य में समन्वय स्थापित करने वाला काव्य–लक्षण आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत किया है। अदोषौ, सगुणौ एवं अनलंकृती पुनः–क्वापि इन तीन विशेषणों से युक्त शब्द तथा अर्थ की समष्टि को काव्य कहा गया है। काव्य तीन प्रकार का होता है। जहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य अधिक चमत्कारपूर्ण होता है, जिसे वैयाकरणों ने ध्वनि कहा है। वही यहाँ उत्तम काव्य है। जहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य अधिक चमत्कारपूर्ण नहीं होता अतः व्यंग्यार्थ के गौण हो जाने पर गुणीभूत नामक मध्यम काव्य कहलाता है। जहाँ शब्द और अर्थ का वैचित्र्य

ही प्रधान हो एवं व्यंग्य अर्थ का अभाव हो वहाँ शब्दचित्र एवं अर्थचित्र के भेद से अधम काव्य होता है।

1.7 शब्दावली

1. शिवेतरक्षतिः – अमंगल का नाश।
2. सद्यः परनिर्वृतये – काव्य–श्रवण से सद्यः आनन्द की प्राप्ति।
3. कान्ता – पत्नी, भार्या।
4. सम्मित – तुल्य, सदृश।
5. विलक्षण – असाधारण, असामान्य।
6. स्थावर – अचल, स्थिर, जड।
7. जंगम – चल, चेतन।
8. विमर्श – विवेचन।
9. विरह – विश्लेष, अभाव।
10. रोध – तट, तीर, कूल।
11. स्फुट – स्पष्ट, व्यक्त।
12. ध्वनि – ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः।
13. स्फोट – स्फुटयति प्रकाशयति अर्थमिति स्फोटः।
14. दर्दुर – भेक, मेंढक।
15. छाया – कान्ति, द्युति।
16. मेदुर – सान्द्र, स्निग्ध।

1.8 बोध प्रश्न

1. काव्य–प्रयोजन कितने होते हैं एवं काव्य–रचना में उनकी क्या आवश्यकता होती है?
2. काव्य–कारणों की चर्चा करते हुए, कारणों की समष्टि को स्पष्ट करें।
3. काव्य–स्वरूप का निरूपण करते हुए सोदाहरण विवेचन करें।
4. उत्तम काव्य का लक्षण एवं उदाहरण बताएँ।
5. मध्यम काव्य किसे कहते हैं? सोदाहरण स्पष्ट करें।
6. अधम काव्य का सोदाहरण निरूपण करें।

1.9 उपयोगी पुस्तकें

ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन
सहित्यदर्पण – विश्वनाथकविराज
काव्यप्रकाश – नागेश्वरी टीका
काव्यप्रकाश – बालमनोरमा व्याख्या
महाभाष्य – महर्षिपतंजलि
अमरकोश – अमरसिंह

इकाई 2 शब्दार्थस्वरूप, तात्पर्यार्थ, अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप–

- शब्द व अर्थ के स्वरूप को जान सकेंगे।
- काव्य में तीन प्रकार के शब्दों के बारे में जानेंगे।
- वाच्य–लक्ष्य–व्यंग्यरूप अर्थों के लक्षण जान सकेंगे।
- वाक्यार्थ के विषय में अभिहितान्वयवादियों के मत को बता सकेंगे।
- सभी प्रकार के अर्थों की व्यंजकता का निर्णय कर सकेंगे।
- तात्पर्यावृत्ति के बारे में जान सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

काव्यलक्षण में प्रयुक्त काव्य के शरीरभूत विशेष्य पद शब्द एवं अर्थ का भिन्न–भिन्न स्वरूप काव्य–भेद के उदाहरण में प्रदर्शित किया गया। इससे शब्द व अर्थ की भी अनेकप्रकारता काव्य–मार्ग में सिद्ध होती है। इसलिए शब्द एवं अर्थ के स्वरूपज्ञान की

जिज्ञासा अवश्यमेव उत्पन्न होती है। अतः अब काव्य के शरीरभूत शब्द एवं अर्थ के स्वरूप का विशिष्टरूप से प्रकाशन किया जा रहा है।

2.2 शब्दार्थस्वरूप

प्रिय विद्यार्थियों! आचार्य मम्मट ने ऐसे शब्दार्थयुगलको काव्य कहा है जो दोषरहित, गुणसहित तथा प्रायःअलंकृत भी होते हैं (तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि)। इस लक्षण में शब्द तथा अर्थ विशेष्य हैं, अन्य पद इनके विशेषण हैं, अतः यहाँ क्रमशः पहले शब्द का और फिर अर्थ का स्वरूप बतलाया जा रहा है। प्रसिद्ध होने के कारण यहाँ शब्द का लक्षण नहीं दिया गया, अपितु शब्दों के प्रकार का कथन किया गया है।

ग्रन्थकार आचार्य मम्मट ने शब्द तथा अर्थ के स्वरूप को बतलाते हुए कहा है–

स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा।।
वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः–

यहाँ काव्य में तीन प्रकार के शब्द होते हैं–वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंजक और क्रमशः इनके अर्थ हैं–वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य।

यहाँ कहा जा सकता है कि किसी शब्द का एक मुख्य अर्थ होता है जैसे 'गौ' शब्द का अर्थ है एक सास्ना अर्थात् गलकम्बल आदि गला पशुविशेष। गौ शब्द से इसी अर्थ (वस्तु) की सामान्यतः प्रतीति होती है। इस मुख्य अर्थ (वाच्यार्थ) को प्रकट करने वाला 'गौ' आदि शब्द वाचक कहलाता है। इस मुख्य अर्थ के अतिरिक्त शब्द से अन्य अर्थ भी प्रकट होते हैं, जैसे– कुर्सी का आदेश है (चेयर का आर्डर है) यहाँ कुर्सी आदेश नही दे सकती क्योंकि वह निर्जीव है अतः कुर्सी शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़कर कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है। मुख्यार्थ से सम्बद्ध इस अर्थ को शब्द का लक्ष्यार्थ कहते हैं और जिस शब्द से यह होता है उसे लाक्षणिक या लक्षक शब्द कहते हैं। इसी प्रकार ''सायंकाल हो गया'' इस वाक्य को सुनकर श्रोतागण अपनी–अपनी परिस्थिति के अनुसार अतिरिक्त अर्थ भी ग्रहण करते है। कोई समझता है 'पूजा का समय हो गया', कोई कहता है ''भ्रमण का समय हो गया। इस अतिरिक्त अर्थ को ही शब्दों का व्यङ्ग्य अर्थ कहते हैं और जिस शब्द से यह अर्थ अभिव्यक्त होता है उसे व्यंजक शब्द कहते हैं। इन तीन प्रकार के अर्थों को प्रकट करने वाली शब्द की तीन वृत्तियाँ (शक्ति/व्यापार) मानी गई हैं– अभिधा लक्षणा, व्यंजना।

2.2.1 शब्दार्थ–भेद

प्रिय छात्रों! आचार्य मम्मट ने तीन प्रकार के शब्दों का निर्देश किया है और उनमें 'व्यंजक' शब्द भी बतलाया है। इस प्रकार शब्दों में व्यंजकता है, यह स्पष्ट ही हैं यह व्यंजकता अर्थों मे भी होती है, यहाँ यही बतलाया गया है। जैसे–

सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यंजकत्वमपीष्यते।

अर्थात् प्रायः वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य समस्त अर्थों कीभी व्यंजकता (किसी अर्थ की व्यंजना करना) अभीष्ट है। वाच्यादि तीन प्रकार के अर्थों का निर्देश ऊपर किया गया है। इन सभी अर्थों में यथासंभव किसी अन्य चमत्कारपूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य होती है। यह सामर्थ्य सर्वत्र नहीं होता अपितु वक्ता, श्रोता एवं अवसर के अनुसार हुआ

करती है– अतएव कारिका में 'प्रायशः' कहा गया है। कारिका में'अपि' शब्द का अन्वय अर्थानां के साथ है–(अर्थानामपि) जिसका अभिप्राय है कि शब्दों के साथ–साथ अर्थों में व्यंजकता होती है।

2.2.2 वाच्यार्थ की व्यंजकता

उन वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य अर्थों में वाच्य अर्थ की व्यंजकताका उदाहरण है–

मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।
तद् भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी।।

अर्थात् हे माता, तुमने ही बतलाया है कि आज घर में इन्धन, शाकादि सामग्री नहीं है, तो तुम ही बताओ कि क्या करना चाहिए? अथवा क्या कुछ नहीं करना चाहिए? क्योंकि दिन तो उसी प्रकार स्थिर रहने वाला नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक में वाच्यार्थ से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ वक्ता के वैशिष्ट्य के कारण अर्थात् किसी स्वेच्छाचारिणी नायिका की यह उक्ति है, इस हेतु श्रोता को यह प्रतीति हो जाती है कि कहने वाली स्वच्छन्द विहार के लिए जाना चाहती है।

2.2.3 लक्ष्यार्थ की व्यंजकता

अब लक्ष्य अर्थ की व्यंजकता का उदाहरण है–

साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचितं त्वया।।

अर्थात् हे सखि् मेरे लिए उस सुन्दर नायक को मनाती हुई तुम प्रतिक्षण दुःखी हुई हो। सद्भाव और स्नेह में करने योग्य उचित कार्य ही तुमने किया है।

उक्त पद्य में लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। प्रिय को मनाने के लिए प्रेषित, किन्तु उसके साथ रमण करके आई हुई सखी के प्रति किसी नायिका की यह उक्ति है, अतः बोद्धव्य–वैशिष्ट्य (श्रोता की विशिष्टता) के कारण सहृदय जनों को यह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति होती है कि यह नायिका कामुक पति तथा सखी के अपराध को प्रकट कर रही है। अपनी सखी के अपराध को समझ लेने वाली नायिका की इस उक्ति में सद्भाव तथा स्नेहरूपी मित्रता इस मुख्यार्थ का बाध हो जाता है अतः विपरीत अर्थ लक्षित होने लगता है। 'सदृशम् का लक्ष्यार्थ 'विसदृशम् (अनुचित), 'मत्कृते का लक्ष्यार्थ 'स्वकृते' और 'दूनाऽसि' का लक्ष्यार्थ 'हृष्टाऽसि' होता है। इस प्रकार मेरे प्रिय के साथ रमण करके तुमने शत्रुता का आचरण किया है, यह लक्ष्यार्थ प्राप्त होता है और इसके द्वारा यह प्रकट करना कि कामुक पति तथा सखी भी अपराधयुक्त है इस चमत्कारपूर्ण व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

2.2.4 व्यंग्यार्थ की व्यंजकता

विद्यार्थियों! यहाँ यह द्रष्टव्य है कि लक्ष्य अर्थ के साथ–साथ व्यङ्ग्य अर्थ भी प्रकट हो रहा है।अब व्यङ्ग्य अर्थ की व्यंजकता का उदाहरण–

पश्य निश्चलनिस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव।।

अर्थात् प्रिय, देखो कमलिनी के पत्र पर बैठी यह बलाका (बगुलों की पंक्ति) न चलती है, न ही हिलती है और ऐसी शोभायमान है मानों स्वच्छ नीलम (नीलमणि) के पात्र पर शङ्खशुक्ति हो।

यह हालकवि की गाथासप्तशती का पद्य है। इसमें बलाका की निश्चलता का वर्णन करके उसकी निर्भयता को व्यक्त किया गया है और निर्भयता रूप व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा उस स्थान की निर्जनता अभिव्यक्त होती है। प्रसंग अथवा विशेष अवसर के कारण इस निर्जनता की प्रतीति द्वारा सहृदय जन दो प्रकार का अर्थ समझ लेते हैं– (1) संयोगपक्ष में कोई नायिका उपनायक से कहती है कि यह निर्जन स्थान है अतः यही उचित संकेत स्थल है। (2) विप्रलम्भ पक्ष में जब नायक कहता है कि तुम यहाँ नहीं आई, मैं तो यहाँ आया था, तब नायिका व्यंजना द्वारा प्रकट करती है कि बलाका की निर्भयता से यहाँ मनुष्य के आगमन का अभाव द्योतित हो रहा है अतः झूठ बोलते हो, तुम यहाँ नहीं आये थे।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य से अभिव्यक्त होने वाले व्यङ्ग्यार्थों का निरूपण उदाहरणों के साथ किया।

2.3 तात्पर्यार्थ

विद्यार्थियों! शब्द किस प्रकार अर्थ को प्रकट करता है,इस बात पर विचार करके विद्वानों ने शब्द की वृत्तियों का विवेचन किया है। व्याकरण, मीमांसा न्याय–वैशेषिक तथा योग आदि शास्त्रों में शब्द–वृत्ति पर पर्याप्त विचार किया गया है। उनकी मान्यताएँ पृथक्–पृथक हैं। प्रायः अभिधा, लक्षणा नामक वृत्तियों को सभी ने स्वीकार किया है। मीमांसक तात्पर्या वृत्ति को भी मानते हैं। कुछ वैयाकरणों ने बड़े विस्तार से व्यंजना–वृत्ति का भी निरूपण किया है। साहित्य–शास्त्र के क्षेत्र में उद्भट, रूद्रट, राजशेखर तथा वामन आदि ने पहले भी शब्द–वृत्ति पर कुछ विचार किया था; किन्तु वे प्रायः अभिधा और लक्षणा पर ही विचार करते रहे। आगे चलकर ध्वनि के उद्भव के साथ व्यंजनावृत्ति का विवेचन साहित्य–शास्त्र में होने लगा। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने इसका विस्तृत विवेचन किया है। सभी मतों का सार–संग्रह करते हुए मम्मट ने काव्य–प्रकाश में तीन–वृत्तियाँ स्वीकार की हैं–

1. अभिधा 2. लक्षणा 3. व्यंजना। इसी से तीन प्रकार के शब्दों तथा अर्थों का भी विवेचन किया है। किन्हीं कुमारिलभट्ट के अनुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि (अभिहितान्वयवादी मीमांसकों) के मत में तीन प्रकार के वाच्यादि अर्थों के अतिरिक्त चौथे प्रकार का तात्पर्यार्थ भी होता है।

भारतीय साहित्य में शाब्दबोध का विवेचन व्याकरण,न्याय मीमांसा इन तीन शास्त्रों में विशेषरूप से किया गया है। इनमें से व्याकरणशास्त्र मेंपद–पदार्थों का विवेचन है, इसलिए व्याकरण को 'पद–शास्त्र' कहते हैं। न्याय में विशेषरूप से प्रमाणों का विवेचन किया गया है इसलिए न्याय को 'प्रमाण–शास्त्र' कहा जाता है। इसी प्रकार वाक्यार्थ–शैली का विवेचन मीमांसा में विशेषरूप से किया गया है, इसलिए मीमांसा को 'वाक्य–शास्त्र कहा जाता है। शाब्दबोध में इन तीनों शास्त्रों की आवश्यकता पड़ती है इसलिए शाब्दबोध में निष्णात इन तीनों शास्त्रों के पण्डित को 'पद–वाक्य–प्रमाणज्ञः' इस गौरवपूर्ण उपाधि से विभूषित किया जाता है। यहाँ ग्रन्थकार ने अर्थ–विवेचन के प्रसंग में मीमांसकों के सिद्धान्त को प्रदर्शित करने के लिए लिखा है कि–

तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्।

अर्थात् मीमांसको के मत में पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है, उसके बाद उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था, वाक्यार्थ मर्यादा से उपस्थित होता है। इसलिए पहले पदों के द्वारा पदार्थ अभिहित अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा बोधित होता है, बाद में वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होता है जिससे वाक्यार्थकी प्रतीति होती है। अभिहितान्वयवादी पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदों से नहीं अपितु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार मानते हैं, इसलिए उसको तात्पर्यार्थ कहते हैं, वही वाक्यार्थ कहलाता है और उसकी बोधक शक्ति को तात्पर्याख्या शक्ति भी कहा जाता है, जो पहले बतलाई हुई तीनों शक्तियों से भिन्न चौथी शक्ति मानी जाती है किन्तु मीमांसक व्यंजना–शक्ति नहीं मानते हैं, इसलिए उनकी दृष्टि से तो यह चौथी नहीं, तीसरी ही शक्ति है।

2.4 अभिहितान्वयवाद

विद्यार्थियों! मीमांसकों में भी वाक्यार्थ के विषय में कई मत पाये जाते हैं, जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद'दो मुख्य हैं। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि 'अभिहितान्वयवाद' के मानने वाले हैं। इसके विपरीत प्रभाकर– गुरू और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि 'अन्विताभिधानवाद' के मानने वाले हैं।

अभिहितान्वयवादियों का मत है कि आकांक्षा (पदों की पारस्परिक अपेक्षा), योग्यता (पदों की पारस्परिक अन्वय–योग्यता), सन्निधि के कारण जिनका स्वरूप आगे कहा जायेगा, उन पदार्थों का अन्वय अर्थात परस्पर सम्बन्ध होने पर एक तात्पर्य रूप अर्थ प्रकट होता है; जो कि वाच्यार्थ आदि से विलक्षण आकार का है, वाक्य में आए हुए पदों का अर्थ नहीं है, अपितु तात्पर्या वृत्ति से प्रकटित वाक्य का अर्थ है। इसी बात को 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' की वृत्ति में आचार्य मम्मट लिखते हैं–

आकांक्षा–योग्यता–सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणांपदा–र्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।

जो शब्द अभिधा, लक्षणा, व्यंजना वृत्ति से किसी अर्थ को प्रकट करता है, वही सार्थक पद है। शब्द का अर्थ जाति, गुण, क्रिया इत्यादि होता है। सार्थक शब्दों के समूह को वाक्य कहते है। किन्तु केवल शब्दों का समूह मात्र सम्यक् अर्थबोध में समर्थ नहीं होता है अपितु आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि होने पर ही शब्दों का परस्पर उचित रूप से अन्वय होता है और तभी सम्यक् अर्थबोध होता है। इन आकांक्षा आदि के स्वरूप का अनेक आचार्यो ने प्रतिपादन किया है। व्याकरण, न्याय तथा साहित्य शास्त्र में इनका स्पष्ट विवेचन किया गया है।

2.4.1 आकांक्षा

सम्यक् अर्थ–बोध के लिए यह आवश्यक है कि पदों में पारस्परिक आकांक्षा हो। जब वक्ता किसी पद का उच्चारण करता है अथवा श्रोता उसका श्रवण करता है तो एक पद के बाद दूसरे पद की विवक्षा या जिज्ञासा होती है, जैसे 'गां' पद के बाद 'आनय' पद की जिज्ञासा। यह अर्थ बोधन या अर्थ–बोध सम्बन्धी आकांक्षा वास्तव में मानव

हृदय में होती है किन्तु एक शब्द का दूसरे के बिना अन्वय–बोध कराने का असामर्थ्य शब्दों की पारस्परिक आकांक्षा कही जाती है, जैसे– 'जलेन सिञ्चति' यहाँ 'जलेन' शब्द के श्रवणानन्तर यह आकांक्षा होती है– किं करोति? और केवल 'सिञ्चति' पद श्रवणानन्तर आकांक्षा होती है– 'कः'? अथवा 'केन'? अतः यहाँ दोनों पद एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं और ये साकांक्ष हैं तथा इनसे सम्यक् अर्थबोध होता है। आकांक्षा के बिना शब्द–समुदाय प्रामाणिक नहीं अर्थात् उससे सम्यक् अर्थबोध नहीं होता है, जैसे– अश्वः गौः, पुरूषः, हस्ती इत्यादि पदसमूह से कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता।

2.4.2 योग्यता

सम्यक् अर्थबोध के लिए पदों में एक दूसरे से अन्वय की योग्यता होनी चाहिए। योग्यता का अर्थ है– पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी प्रकार की बाधा न होना, जैसे– 'जलेन सिञ्चति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'जल' पद के अर्थ में अर्थात् जलरूप वस्तु में सींचने की योग्यता है, इसी हेतु इस वाक्य से सम्यक् अर्थ–बोध होता है।

'योग्यता के बिना कोई शब्द समुदाय अप्रामाणिक है, वह सम्यक् अर्थ–बोध नहीं कराता, जैसे–'अग्निना सिञ्चति'यह प्रमाण नहीं है, क्योंकि अग्निका कार्य जलाना, पकाना आदि है उसका सींचने से सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः अग्नि और सिञ्चन के पारस्परिक सम्बन्ध में बाधा पड़ती है।

2.4.3 सन्निधि

साकांक्ष पदों का एक बुद्धि का विषय होना 'सन्निधि' या आसत्ति कही जाती है। साकांक्षा पदों की सन्निधि के लिए उनके बीच में अर्थबोध में बाधा डालने वाले अन्य पदों का न होना तथा उन पदों का अविलम्ब उच्चारण करना–ये दो बातें आवश्यक हैं; जैसे–'जलेन सिञ्चति' ये दोनों पद पारस्परिक सान्निध्य होने पर ही सम्यक् अर्थबोध कराते है।

'सन्निधि' के बिना पद समुदाय अप्रामाणिक है, वह सम्यक् अर्थबोध नहीं कराता, जैसे ' पर्वतः खादति अग्निमान् देवदत्तः' यहाँ पर्वत–अग्निमान् के बीच में अर्थबोध में बाधा डालने वाले पद 'खादति' का प्रयोग है अतः सन्निधिरहित होने से यह शब्द समुदाय सम्यक् अर्थबोधक नहीं। इसी प्रकार यदि कोई 'गाम्' कहने के घण्टों या दिनों पश्चात् 'आनय' शब्द का उच्चारण करे तो यह शब्द–समुदाय सन्निधि रहित होने से ठीक अर्थबोध न करा सकेगा।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि युक्त शब्दों के समूह को वाक्य कहते हैं, उसी से पूर्ण अर्थबोध होता है। अब विचारणीय यह है कि यह वाक्य से प्रतीत होने वाला अर्थ–

(१) शब्दों के पृथक्–पृथक् अर्थों का समूहमात्र होता है अथवा (२) शब्दों के अर्थ से भिन्न कोई नवीन अर्थ होता है? इस विषय में मीसांसक आचार्य कुमारिल भट्ट का मत है कि शब्दों के अर्थ से भिन्न एक नवीन अर्थ वाक्यार्थके रूप में प्रकट हुआ करता है। इसका क्रम यह है कि पद अपनी अभिधा आदि वृत्तिसे किन्हीं अर्थों को अलग–अलग प्रकट कर देते हैं। उसके बाद उन अर्थों का परस्पर सम्बन्ध हो जाता है अर्थात शब्दों द्वारा अभिहित अर्थों का बाद में अन्वय(परस्पर सम्बन्ध) होता है (अभिहितानां पदानाम् अन्वयः)। इस विचार या वाद (तत्सम्बन्धी वादः अभिहितान्वयवादः) को मानने के कारण कुमारिल भट्ट के अनुयायी अभिहितान्वयवादी' कहे जाते हैं।

इनका विचार है कि पदों में केवल पदार्थबोधन की ही शक्ति है। पदार्थों के अन्वय अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करने का सामर्थ्य शब्दों में नहीं होता। अन्वय या संसर्गरूप अर्थ तो तात्पर्यार्थ है, वह वाच्य अर्थ से विलक्षण प्रकार का होता है और आकांक्षा आदि से युक्त शब्दों का सम्बन्ध हो जाने पर भासित हुआ करता है। वह पदों का अर्थ नहीं अपितु पदार्थ से पृथक् है और वाक्य का अर्थ है। जिस प्रकार वाक्यार्थ को प्रकट करने के लिए अभिधा शक्ति मानी जाती है किन्तु इसी से लक्ष्यार्थ का भी बोध नहीं हो जाता अतः लक्ष्यार्थ को प्रकट करने के लिए लक्षणा नाम की द्वितीय शब्दवृत्ति की कल्पना करनी पड़ी है, इसी प्रकार तात्पर्यार्थ को प्रकट करने के लिए तात्पर्यवृत्ति नामक एक और शब्द वृत्ति माननी चाहिए। बात यह है कि वृत्ति के बिना अर्थबोध हो ही नहीं सकता। अतः वाक्य का अर्थ जो संसर्ग (अन्वय) है उसको प्रकट करने के लिए तात्पर्य नामक वृत्ति स्वीकार करनी ही पड़ेगी और वाच्यार्थ के समान तात्पर्यार्थ भी होता है, यह मानना पड़ेगा। उदाहरण के लिएएक वाक्यार्थ देखिए–'घटं करोति' (घड़ा बनाता है) यहाँ घट शब्द से घटरूप वस्तु का बोध होता है 'अम्' प्रत्यय ये कर्मत्व का और 'करोति' क्रिया से कृति (करना या बनाना) का बोध होता है। किन्तु यह कर्मत्व घटवृत्ति है अर्थात् 'घट' करना का कर्म है। यह अर्थ (वृत्तिता) तो आकांक्षादि के कारण 'घटम्' और 'करोति' का अन्वय हो जाने पर तात्पर्यवृत्ति से ही भासित होता है। तभी 'घटवृत्तिकर्मत्वानुकूला कृतिः यह शाब्दबोध होता है। अभिहितान्वयवाद का अभिप्राय यही है– पहले पदार्थ–बोध होता है तब वाक्यार्थ बोध होता है। पदों के शुद्ध अर्थ में ही व्यवहारादि से संकेतग्रह होता है। इसी हेतु सर्वथा नवीन वाक्य में भी वाक्यार्थप्रतीति हो जाती है। अतः वाक्य का प्रत्येक शब्द अपने–अपने अर्थ का अभिधान करता है और आकांक्षादि के कारण उन अर्थों का परस्पर अन्वय हो जाता है तथा तात्पर्य नामक वृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ का बोध हो जाता है।

2.5 अन्विताभिधानवाद

इस मत के प्रवर्तक गुरू प्रभाकर भट्ट हैं, इनके सिद्धान्त को 'गुरूमत' से भी जाना जाता है। इनका मत है कि पदों से परस्पर सम्बन्ध न रखने वाले पृथक्–पृथक् अर्थ की प्रतीति नहीं होती अपितु परस्पर सम्बद्ध अर्थात् अन्वित अर्थ की ही प्रतीति होती है इस प्रकार शब्द अन्वित अर्थ का ही कथन करते हैं (अन्वितानाम् अभिधानम्)। इस वाद को मानने के कारण प्रभाकर अन्विताभिधानवादी कहे जाते हैं। इस मत के अनुसार वाक्य का अर्थ वाच्यार्थ ही है, वह पदसमुदायरूप वाक्य का साक्षात् अर्थ है; तात्पर्य–वृत्ति से प्रकट होने वाला कोई आगन्तुक अर्थ नहीं, जैसा कि कुमारिल ने कल्पित किया है। इसी से इनके मतानुसार तात्पर्यवृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। यथा–

वाच्य एव वाक्यार्थः इत्यन्विताभिधानवादिनः।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर का विचार है कि अलग–अलग अर्थ, जो कि परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं, वे प्रकट हो ही नहीं सकते। जैसे–'वह पढ़ता है' इस साधारण वाक्य में 'वह' का अर्थबोध उद्देश्य रूप 'कोई व्यक्ति' के आकार में होता है और 'पढ़ता है' का विधेयरूप 'पढ़ना क्रिया' के आकार में। यहाँ पृथक्–पृथक् शब्दों का अर्थबोध होने के अनन्तर उसका अन्वय होता है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः शक्तिग्रह या संकेतग्रह भी अन्वित अर्थ में ही हुआ करता है, जैसे– पिता आदि (उत्तम वृद्ध) ने बड़े भाई आदि (मध्यम वृद्ध) से कहा 'देवदत्त गामानय'– (देवदत्त गाय लाओ) इस वाक्य को समीप

बैठे बालक ने सुना और देखा कि उनका बड़ा भाई (देवदत्त) सास्नादिमान् (गलकम्बल से युक्त) एक विशेष प्रकार के पशु को लाया है तो बालकने अनुमान कर लिया कि 'गामानय' इस अखण्ड वाक्य का इस सास्नादिमान् पशु को लाने में अभिप्राय था। इसके बादवह बालक पिता के यह कहने पर कि 'गांनय' (गाय को ले जाओं), 'अश्वमानय' (घोड़े को लाओ) देवदत्त को गाय ले जाते हुए देखता है तो इतरान्वित 'गाम्' आदि के अर्थ का ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार व्यवहार से जो शक्तिग्रह होता है वह केवल पदार्थ में नहीं होता अपितु अन्वित पदार्थ में ही होता है अर्थात् 'गाम्' आदि का क्रियान्वित कारक पद में शक्तिग्रह होता है तथा 'आनय' आदि का कारकान्वित क्रियापद में शक्तिग्रह होता है। यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि सामान्यतः क्रियामात्र से अन्वित कारक आदि में ही शक्तिग्रह होता है किसी विशेष 'आनयन' आदि क्रिया से अन्वित में नहीं।जब अन्वित में ही शक्तिग्रह होता है तो वाक्य श्रवणानन्तर अन्वितार्थ की प्रतीति हो जानासम्भव ही है अतः अन्वय या संसर्ग बोध के लिए तात्पर्य नामक वृत्ति की कल्पना नितान्त अनावश्यक है। यहाँ कहा जा सकता है कि प्रभाकर के मत में वाक्य अखण्डार्थबोधक है, वास्तविक इकाई है। उसमें से कृत्रिम रूप से या व्यावहारिक दृष्टि से शब्दों को पृथक् कर लिया जाता है।

प्रिय छात्रों! यहाँ विचारणीय यह है कि आचार्य मम्मट को इन दोनों मतों में से कौन सा अभीष्ट है?व्याख्याकारों का विचार है कि अभिहितान्वयवाद ही मम्मटको अभीष्ट है। उन्होंने तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार किया है; क्योंकि ये कई स्थलों पर इसका उल्लेख करते हैं; जैसे–

अभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः। (सूत्र ३१)

अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपलपनीयः। (उ. ५)

यह स्पष्ट है कि मम्मटने अपनी दृष्टि से तीन प्रकार के शब्द और अर्थ का प्रारम्भ में निर्देश कर दिया है।यह तो अन्यों का (केषुचित्) मत दिखलाया है। अतः तात्पर्यार्थ नामक कोई पृथक् अर्थ मम्मट को अभीष्ट नहीं है।

2.6 सारांश

काव्य के शरीरभूत शब्द एवं अर्थ का तीन प्रकार से विभाग किया गया। वाचक, लाक्षणिक, व्यंजक ये तीन प्रकार के शब्द एवं इनके वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थ हैं।

कुमारिल भट्ट आदि मीमांसक वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ कहते हैं, उनके मत में आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि होने पर ही शब्दों का परस्पर उचित रूप से अन्वय होता है और तभी सम्यक् अर्थबोध होता है। अभिहितान्वयवाद का अभिप्राय यही है कि पहले पदार्थ–बोध होता है तब वाक्यार्थ–बोध होता है। अतः वाक्य का प्रत्येक शब्द अपने–अपने अर्थ का अभिधान करता है और आकांक्षादि के कारण उन अर्थों का परस्पर अन्वय हो जाता है तथा तात्पर्य नामक वृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। इनसे भिन्न प्रभाकर भट्ट आदि मीमांसक हैं। उनके मत में पदों से परस्पर सम्बन्ध न रखने वाले पृथक्–पृथक् अर्थ की प्रतीति नहीं होती अपितु परस्पर सम्बद्ध अर्थात् अन्वित अर्थ की ही प्रतीति होती है इस प्रकार शब्द अन्वित अर्थ का ही कथन करते हैं। इस वाद को मानने के कारण प्रभाकर अन्विताभिधानवादी कहे जाते हैं। प्रायः

वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य समस्त अर्थों की भी व्यंजकता अभीष्ट है। इन सभी अर्थों में यथा सम्भव किसी अन्य चमत्कारपूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य होता है।

2.7 शब्दावली

उपकरणम् – साधन, सामग्री

वासरः – दिवस, दिन

स्वैरम् – स्वच्छन्द

सुभगः – सुन्दर, प्रिय

बलाका – बगुलों की पंक्ति

2.8 बोध प्रश्न

1. काव्य में तीन प्रकार के शब्द–वाचक, लाक्षणिक, व्यंजक।
2. कुमारिलभट्ट आदि मीमांसक तात्पर्यार्थवादी अभिहितान्वयवादी कहे जाते हैं।
3. प्रभाकरगुरु आदि मीमांसकों के मत में वाच्य ही वाक्यार्थ होता है।
4. काव्य में अर्थ कितने प्रकार का होता है?
5. आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि से क्या तात्पर्य है?
6. तात्पयार्थ के विषय में मीमांसकों के दोनों मत का आश्रय लेकर एक निबन्ध लिखें।

2.9 उपयोगी पुस्तकें

1. गाथासप्तशती = हालकवि
2. अमरकोश = अमरसिंह

इकाई 3 शब्दशक्तिनिरूपण–अभिधा, लक्षणा और व्यंजना

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप–

- शब्द का मुख्यार्थ संकेतित अर्थ ही होता है, यह जानने में सक्षम हो सकेंगे।
- संकेत–ग्रह के विषय में अन्य शास्त्रों के मतों को जान सकेंगे।
- मुख्यार्थ के बोध में मुख्य व्यापार (अभिधा–वृत्ति) की भूमिका को भी बता सकेंगे।
- लक्षणा–वृत्ति के स्वरूप का प्रतिपादन कर सकेंगे।
- लक्षणा–वृत्ति के सभी भेदों का सोदाहरण विवेचन करने में समर्थ हो सकेंगे।
- व्यंजना–वृत्ति के स्वरूप, भेद एवं उदाहरण को बताने में सक्षम हो सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में शब्द–शक्तियों के निरूपण के क्रम में सर्वप्रथम वाचक शब्द का निरूपण किया गया है, जिसका सम्बन्ध संकेतित अर्थ से है। संकेत के विषय में विशद चर्चा

इस क्रम में होती है, तत्पश्चात् वाच्यार्थ या मुख्यार्थ का बोध कराने वाली अभिधा शक्ति का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय–शक्ति/वृत्ति लक्षणा का निरूपण भी इसी क्रम में किया गया है, लक्षणा–वृत्ति का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए लक्षणा के तीन हेतुओं (मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग, रुढि/ प्रयोजन) की अपरिहार्यता पर चर्चा की गई है। तदनन्तर लक्षणा के मुख्य एवं गौण भेदों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। इसी क्रम में व्यंजना वृत्ति की भी चर्चा की गई है, व्यंजना को एक पृथक् वृत्ति के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसके स्वरूप एवं भेद को स्पष्ट किया गया है।

3.2 अभिधावृत्ति

विद्यार्थियों! वाचक शब्द किसे कहते हैं? उसका स्वरूप क्या है? यह स्पष्ट करते हुए आचार्य मम्मट ने बताया है कि सांसारिक व्यवहार में जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत ग्रहण किया जाता है, उस अर्थ की ही प्रतीति उस शब्दसे होती है। यदि संकेतग्रहण न हो तो शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। यह संकेत क्या है? 'इसशब्द का यह अर्थ है' अथवा 'इस अर्थ का प्रतिपादक यह शब्द है' (अस्मात् शब्दाद् अयमर्थो बोद्धव्यः) इस प्रकार की सामाजिक मान्यता ही संकेत है। जो व्यक्ति किसी शब्द के विषय में इस संकेत या मान्यता से अपरिचित होते हैं वे उसका अर्थबोध नहीं कर सकते। यह संकेत दो प्रकार का हो सकता है, एक साक्षात् रूप में और दूसरा व्यवहित रूप में (परम्परया), जैसे– वट (बरगद) एक वृक्ष का नाम है, वृक्ष रूप अर्थ में 'वट' का साक्षात् रूप से संकेत है। किन्तु जिस ग्राम में कोई विशाल वट–वृक्ष है उसे भी यदि वट ग्राम (वटो ग्रामः) या बड़ गांव कहा जाता है तो यह परम्परया संकेत है, अर्थात् ग्राम में'वट' शब्द का साक्षात् रूप से संकेत नहीं है। जब किसी शब्द का साक्षात् रूप से किसी अर्थ में संकेत होता है तो वह शब्द उस अर्थका वाचक कहलाता है। ऊपर के उदाहरणमें 'वट' शब्द वटवृक्ष रूप अर्थका वाचक है, वट ग्राम रूप अर्थ का नहीं।

आचार्य मम्मट ने इस बात को निम्न कारिका मे इस तरह कहा है–

'साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।'

अर्थात् जो शब्द साक्षात् संकेत किये गये अर्थ का बोध कराताहै, वह वाचक शब्द कहलाता है। और जिस अर्थ मेंसंकेत किया जाता है वह चार प्रकार काहै– जाति आदि (अर्थात् जाति,गुण, क्रिया यदृच्छा) अथवा केवल (एक ही प्रकार का) जाति रूप ही है। अभिप्राय यह है कि जिस अर्थ में किसी पद का संकेत किया गया है वह संकेतित अर्थ कहलाता है। शब्द का यह संकेतित अर्थ किस रूप में होता है? अर्थात् शब्द का संकेत द्रव्य या व्यक्ति में होता है अथवा जाति में इस विषय में न्यायादि शास्त्रों में विस्तार से विवेचन किया गया है और पदार्थ क्या है? इस सम्बन्ध में विविध मत प्रस्तुत किये गये हैं। किन्हीं नव्य नैयायिक के मत में व्यक्ति (द्रव्य) ही पदार्थ है, व्यक्ति में ही पद का सङ्केतग्रह होता है। मीमांसक की दृष्टि में समस्त पदों का संकेतग्रह वस्तु के साामान्यरूप अर्थात् जाति में ही होता है। न्याय–वैशेषिक के अनुसार जाति–विशिष्ट व्यक्ति पदार्थ है। बौद्धमत में 'अपोह' ही शब्दार्थ है। आचार्य मम्मट ने सभी मतों का प्रसङ्गानुसार आगे उल्लेख किया है। प्रस्तुत कारिका में उन्होंने दो मतों का ही निर्देश किया है। यथा–

सङ्केतितश्चतुर्भेदोजात्यादिर्जातिरेव वा।

ग्रन्थकार आचार्य मम्मट आगे स्वयं ही निरूपण करते हैं, संङ्केतिक अर्थ चार प्रकार का है–जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। इसलिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने चार प्रकार के शब्द माने हैं। जैसे– गो शब्द गोत्व जाति का बोध कराता है। २. गुण शब्द – वे शब्द हैं जो गुणों के वाचक हैं, जैसे 'शुक्ल' आदि शब्द। ३. क्रिया शब्द–वे शब्द हैं जो क्रिया का बोध कराते हैं। ये दो प्रकार के हैं क्रिया की साध्यावस्था को कहने वाले तिङन्त शब्द 'पचति' आदि और क्रिया की सिद्धावस्था को बतलाने वाले घञन्त आदि शब्द जैसे– पाक: (पच् + घञ्), ४. यदृच्छा शब्द के रूप में वे प्रयुक्त किए जाते हैं, जो संज्ञा हों जैसे किसी बैल का नाम 'डित्थ' रख लिया अथवा किसी बालक का नाम 'पप्पू' रख लिया। इस प्रकार के संज्ञा शब्द व्यक्ति का बोध कराते हैं। वैयाकरणों के अनुसार इस संकेतित अर्थ का चतुर्विध विभाग दिखाकर आचार्य मम्मट ने विकल्प रूप से मीमांसकों कामत प्रकट किया है 'जातिरेव वा' अथवा जाति ही एकमात्र संकेतित अर्थ है।

आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि शब्दों का संकेतग्रह व्यक्तिरूप अर्थ में ही होना चाहिए क्योंकि व्यक्ति से हमारे जीवन के व्यवहार सिद्ध होते है। गौ व्यक्ति ही दूध देना आदि प्रयोजनों को पूर्ण करने वाली है, तथा दूध दुहने आदि के लिए गौ व्यक्ति में ही देवदत्त आदि की प्रवृत्ति देखी जाती है और सींगो की चोट से बचने के लिए गौ व्यक्ति से निवृत्ति देखी जाती है। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही है। जीवन का व्यवहार व्यक्तिसे सम्बन्ध रखता है। व्यवहार द्वारा ही प्रथम संकेतग्रह भी होता है इसीलिए 'व्यक्ति' ही पदार्थ है यह शङ्का होती है।

'तथापि' इत्यादि से ग्रन्थकार इसका समाधान करते हैं कि व्यक्ति में सङ्केतग्रह मानने पर तीन बाधाएँ हैं – (१) आनन्त्य दोष (२) व्यभिचार दोष (३) विषय–विभाग की अप्राप्ति। अतः व्यक्ति में संकेत–ग्रह माना जाये तो दो विकल्प हो सकते हैं:–(१) क्या समस्त व्यक्तियों में संकेतग्रहण के पश्चात् व्यवहार का निर्वाह होता है? अथवा (२) किसी एक व्यक्ति में संकेतग्रह के पश्चात् ही व्यवहार का निर्वाह हो जाता है? यदि इनमें से प्रथम विकल्प माना जाये तो कठिनाई यह है कि व्यक्ति तो अनन्त है, वे एक साथ एक देश में उपस्थित नहीं हो सकते, अतः उनमें संकेतग्रह हो ही नहीं सकता (आनन्त्य दोष) .द्वितीय विकल्प की मानें तो आपत्ति यह है कि जिस व्यक्ति में सङ्केत–ग्रह हुआ है, उससे भिन्न व्यक्ति की उस शब्द से प्रतीति न होगी और यदि होगी तो संकेतित अर्थ का ही शब्द से बोध होता है।,यह नियम भंग हो जाएगा और फिर तो गो शब्द से अश्व की प्रतीति भी होने लगेगी, यह अनियम अर्थात् व्यभिचार दोष होगा। इन आनन्त्य और व्यभिचार नामक दो बाधाओं के कारण व्यक्ति में संकेतग्रह हो ही नहीं सकता।

यदि किसी प्रकार व्यक्ति में संकेतग्रह मान भी लिया जाये तो पद के विभिन्न अर्थों का भेद प्रकट न हो सकेगा; क्योंकि तब तो ''गौः शुक्लः चलो डित्थः'' अर्थात् डित्थ नामक सफेद बैल जा रहा है इस वाक्य में 'गौः' इस पद का अर्थ गोत्वरूप जातिमान्, 'शुक्लः' का अर्थ शुक्लत्व रूपगुणवान्, 'चलः' का अर्थ 'चलनरूप क्रियावान् और 'डित्थ::' का अर्थ 'डित्थत्ववान्' होगा। एक गोरूप व्यक्ति ही इन चारों शब्दों का अर्थ होगा। क्योंकि व्यक्तिवादी के मत में व्यक्ति ही इन चारों का प्रवृत्तिनिमित्त है और वह गो व्यक्ति एक ही है अतः विषय–विभाग न होगा। तब तो ये चारों शब्द पर्याय होंगे और इनका साथ–साथ प्रयोग भी न हुआ करेगा; जैसे 'घटः कलशः' का सहप्रयोग नहीं होता।

इन तीनों दोषों के कारण व्यक्ति में संकेत–ग्रह न मानकर व्यक्ति की जो चार प्रकार की उपाधि अर्थात् विशेषण या विशेष धर्म (जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा) है, उसमें ही संकेतग्रह मानना चाहिए।

इस प्रकार जाति इत्यादि भिन्न–भिन्न प्रवृत्ति निमित्त होने से इन शब्दों का सहप्रयोग उचित ही है। जहाँ तक व्यवहार निर्वाह की बात है, उपाधि–शक्तिवाद में शब्द से गोत्व आदि जाति का बोध होता है और जाति, व्यक्ति के बिना रह नहीं सकती अथवा उसका लाना आदि नहीं हो सकता, इस हेतु आक्षेप से व्यवहार का निर्वाह हो जाता है।

वृत्तिभाग में प्रयुक्त तीन पद–अर्थक्रियाकारिता, प्रवृत्ति– निवृत्तियोग्याः,उपाधिः का क्रमशः निरूपण–

1) **अर्थक्रियाकारिता**–यहां पर अर्थ शब्द का अभिप्राय 'प्रयोजन' (कार्य) है प्रत्येक वस्तु किसी प्रयोजन को सिद्ध करती है जैसे गाय दुग्धप्रदान करती है, घड़ा जलाहरणरूप कार्य का सम्पादन करता है। यही इन वस्तुओं की अर्थक्रिया है; अर्थात् क्रिया अर्थक्रिया अथवा अर्थस्य क्रिया अर्थक्रिया जलाहरणरूप क्रिया ही घट की अर्थक्रिया है।

   अर्थक्रियां करोति इति अर्थक्रियाकारी तस्य भावः अर्थक्रियाकारिता–अर्थ+क्रिया+ कृ+णिनि + तल्। किसी कार्य को करने की सामर्थ्य ही अर्थक्रियाकारिता कही जाती है। यह बौद्ध दर्शन की भूमि में विशेष प्रसिद्ध शब्द है।

2) **प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या**–जब हम किसी अर्थ का प्रमाण द्वारा ग्रहण करते हैं तो उसके प्रति तीन प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है–ग्रहण, त्याग तथा उपेक्षा (उपादान, हान तथा उपेक्षा) जिस वस्तु को हम ग्रहण करना चाहते हैंउसको लेने के लिए प्रवृत्त होते हैं। वस्तु को ग्रहण करने की चेष्टा ही प्रवृत्ति कहलाती है। जिस वस्तु को हम हानिकारक समझते हैं उसे त्यागने की चेष्टा करते हैं तथा जिसके प्रति उपेक्षा बुद्धि होती है उसके प्रति उदासीन रहते है। इन वस्तुओं से हम निवृत्त होते हैं, प्रतिषिद्ध एवं उपेक्षित वस्तुओं से बचनाही निवृत्ति है। यह प्रवृत्ति तथा निवृत्ति व्यक्ति के प्रति ही हो सकती है जाति अर्थात् गोत्व आदि में नहीं।

3) **उपाधि**–एक या अनेक वस्तुओं के ऐसे धर्म को उपाधि कहते हैं जो उन्हें दूसरी वस्तुओं से भिन्न भी करता है। विशेषण या विशेष धर्म कहा जा सकता है। दूसरी वस्तुओं से पार्थक्य प्रकट करने के कारण यह भेदक या व्यवच्छेदक धर्म भी है। जाति (सामान्य), गुण, क्रिया और संज्ञा सभी उपाधि के अन्तर्गत हैं, अतः 'गोत्व' आदि जाति की उपेक्षा उपाधि एक व्यापक वृत्ति है।

3.2.1 उपाधिभेद से पदों का चतुर्विध विभाजन

यह उपाधि मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है। 1.वस्तुका यथार्थ धर्म और 2. वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा से उस अर्थ में सन्निवेशित। इनमें से वक्ता की यदृच्छा से सन्निवेशित उपाधि यदृच्छात्मक रूढि शब्दों मे रहती है। वस्तु–धर्म भी दो प्रकार का होता है, एक सिद्धरूप और दूसरा साध्यरूप। इनमें साध्यरूपवस्तुधर्म 'क्रिया' कहलाता है, सिद्ध रूप, वस्तु–धर्म भी दो प्रकार का होता है। एक पदार्थ का प्राणप्रद या जीवनधायक और दूसरा विशेषताका आधान कराने का कारण। इनमें से पहला अर्थात्

वस्तु का प्राणप्रद सिद्ध धर्म 'जाति' होता है। गौ है यदि ऐसा न होता तो चित्र लिखित गौ की आकृति भी वस्तुतः गौ कहलाती। अतः वस्तु को स्वरूप देने वाला 'गोत्व' घटत्व आदि धर्म ही जाति कहलाता है। जैसा कि भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ में कहा है कि–गौ स्वरूपतः न गौ होती है न अगौ। गोत्व जाति के सम्बन्ध से ही गौ कहलाती है। इसलिए वस्तुका प्राणप्रद जीवनाधायक वस्तु–धर्म 'जाति' कहलाता है।।

वाक्यपदीय की उक्ति से गौ यही अर्थ प्रतीत होता है कोई गौ अपने स्वरूप में–व्यक्तिगतरूप से– 'गौ' नहीं (अथवा गौ शब्द के व्यवहार का विषय नहीं) यदि ऐसा होता तो पट, आदि भी गौ हो जाते 1. और गौ अपने रूप से (स्वतःही) अगौ नहीं (अथवा 'यह गाय नही इस व्यवहार का विषय नहीं) किन्तु बात यह है कि उसमें 'गोत्व' का सम्बन्ध है अर्थात् उसमें समवाय सम्बन्ध से गोत्व रहता है इसलिए वह गौ है, पदार्थ का स्वरूप उसकी जाति ये कारण ही होता है। अथवा गोत्व आदि जाति के ज्ञान से ही उसमें 'गो' शब्द का व्यवहार होता है। यह जाति वस्तुधर्म होने के कारण यादृच्छिक (कल्पित) संज्ञा में भिन्न है, सिद्ध धर्म होनें में साध्यरूप क्रिया से भिन्न है तथा वस्तु का प्राणप्रद धर्म होने से विशेष प्रतीति के हेतु मात्र गुण से भिन्न है।

3.2.2 गुण (विशेषाधानहेतुः)

द्वितीय उपाधि गुणहै, जो वस्तु का सिद्ध धर्म है और किसी वस्तु में विशेष प्रतीति का हेतु है। गोत्व जाति वाली दो या अधिक गो व्यक्तियों में 'कृष्णा गौः' 'शुक्ला गौः' इत्यादि रूप से कृष्ण और शुक्ल आदि गुणों के द्वारा भेद की प्रतीति होती है, अतः गुण सजातीय वस्तुओं को एक दूसरे से पृथक् कराने वाले सजातीय–व्यावर्तक है। जाति या सामान्य तो वस्तु का स्वरूपाधायक है और गुण वस्तु में विशेषता उत्पन्न करने वाला है। यही दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

3.2.3 क्रिया (पूर्वापरीभूतावयवः)

वस्तु की तृतीय उपाधि क्रियारूप है। यह वस्तु का धर्म तो है किन्तु साध्यावस्था में है, अभी उत्पाद्य है।साध्य रूप वस्तुधर्म दाल आदि के पकानेमें चूल्हा जलाकर बटलोई रखने से लेकर उसके उतारने पर्यन्त आगे–पीछे किया जानेवाला पूर्वापरीभूत सारा व्यापार–कलाप क्रियारूप क्रिया शब्द से वाच्य होता है।

डित्थ आदि किसी व्यक्तिविशेष के वाचक रूढ़ि शब्दों का स्फोट की पूर्वप्रदर्शित प्रक्रिया के अनुसार पूर्व–पूर्व वर्णानुभव–जनितसंस्कारसहकृत चरम वर्ण के श्रवण से अन्त्य–बुद्धि (चरमवर्ण के श्रवण) से गृहीत होने वाला गकार, औकार, विसर्जनीय आदि के नाम के क्रम भेद से रहित बिना क्रम के बुद्धि में एक साथ उपस्थित होने वाला पदस्फोट रूप स्वरूप को वक्ता की अपनी स्वेच्छा द्वारा डित्थ आदि पदार्थों में उसके वाचक उपाधिरूप से सन्निविष्ट किया जाता है। अर्थात् किसी पदार्थ या व्यक्ति–विशेष का नाम रखने वाला व्यक्ति रूढ़ संज्ञारूप शब्द का उस अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित कर देता है कि व्यक्ति इस नाम से बोधित होगा। इस प्रकार यह रूढ़ संज्ञारूप यदृच्छात्मक शब्द होता हैं।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने यहाँ तक प्रतिपादन किया कि संकेत ग्रह व्यक्ति में नहीं होता है अपितु व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा धर्मों मे होता है। उसी

के चार प्रकार का विभाग किया जाता है। अपने इस चतुर्विध विभाग की सम्पुष्टि में महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनिकी सम्मति प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं कि–

'सफेद रंग की 'चलती हुई' 'डित्थ' नाम की, 'गाय' इत्यादि वाक्य में जाति–शब्द के रूप में गौ पद का, गुण–शब्द के रूप में शुक्ल पद का, क्रिया शब्द के रूप में चल पद का और यदृच्छा–शब्द के रूप में डित्थ पद का प्रयोग होने से शब्द की प्रवृत्ति या प्रवृत्ति–निमित्त चार प्रकार का होता है यह महाभाष्यकार ने कहा है। यथा–

'गौः शुक्लश्चलो डित्थः इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः इति महाभाष्यकारः।'

3.2.4 जातिमात्र में संकेत मानने वाले मीमांसकों का मत–

जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा ये चार उपाधियाँ हैं जिनमें शब्द का संकेत किया जाता है। शुक्लादि गुण भिन्न–भिन्न आधारों में भी 'वस्तुतः एक ही है अतः उनको उपाधि मानकर संकेतग्रह किया जाना सम्भव है इस बात को मीमांसक स्वीकार नहीं करते। आचार्य मम्मट ने 'जातिरेव वा' कारिकांश से उन्हीं के मत का निर्देश किया है।

उनका कथन है कि हिम, दुग्ध तथा खड्ग आदि में रहने वाला शुक्ल गुण भिन्न–भिन्न है और उसे एक मानकर सामान्य उपाधि नहीं कहा जा सकता तथा उसमें संकेतग्रहण सम्भव ही नहीं है। अतः भिन्न–भिन्न शुक्ल गुणों में रहने वाली शुक्लत्व जाति माननी चाहिये। उस शुक्लत्व जाति में ही संकेतग्रह होता है, इसलिये कोई आपत्ति नहीं ।इस प्रकार गुड़ तथा चावल आदि की पाक क्रिया भिन्न–भिन्न है किन्तु उनमें पाकत्व जाति तो है। संज्ञा शब्दों में भी सामान्य रहती ही है; जैसे–बालक, वृद्ध और शुक आदि के बोलेहुए 'राम राम' शब्द भिन्न–भिन्न हैं, उनमें ही रामत्व जाति है। अथवा यदि सामान्य या जाति अर्थ का ही धर्म है तो जिस पिण्ड कानाम डित्थ आदि रखा जाता है वह बाल्य, यौवन तथा वृद्धत्व में भिन्न–भिन्न है या कहिये कि शरीर तो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, अतः एक प्रतीत होते हुए भी क्षण–क्षण में भिन्न ही है; इसीलिये डित्थसंज्ञक व्यक्तियों में 'डित्थत्व नामक सामान्य रहता है। इस प्रकार 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' इस लक्षण वाला सामान्य है जो गुण, क्रिया तथा संज्ञा के विषय में सर्वत्र विद्यमान है और सामान्य या जाति ही शब्दों की प्रवृति का निमित्त है।

इस प्रकार मीमांसक के मतानुसार जाति ही पदार्थ है प्रत्येक शब्द जाति या सामान्य का ही वाचक है। 'गामानय' इत्यादि में 'गाम्' का अर्थ ' गोत्व' ही होता है किन्तु जाति से व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है। अतः व्यक्ति का आनयनादि होता है।

3.2.5 नैयायिक एवं बौद्ध मत में संकेतग्रह

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने संकेतग्रह के विषय में वैयाकरण, आलंकारिक और मीमांसकों के मत का वर्णन किया। अब इनके अतिरिक्त नैयायिकों तथा बौद्धों ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है और उनके मत इन पूर्व प्रदर्शित मतों से भिन्न हैं। यथा–

तद्वानपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम्।

अर्थात् नैयायिकों के मत में न केवल जाति में संकेतग्रह मानाजा सकता है और न केवल व्यक्ति में, अपितु जाति तथा आकृति से विशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह होता है।

इसे ग्रन्थकार ने पंक्ति में 'तद्वान् पदार्थः' कहकर दिखलाया है।'तद्वान् का अर्थ जातिमान् है। अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेत ग्रह मानना चाहिये, यह नैयायिक–मत है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध–दार्शनिकों का भी इस विषय में अपना अलग मत है। उनके मत में शब्द का अर्थ 'अपोह' होता है। अपोह का अर्थ 'अतद्–व्यावृति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है। दस घट–व्यक्तियों में जो 'घटः घटः' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है उसका कारण 'अघट–व्यावृत्ति' या 'घटभिन्नभिन्नत्व' हैं। प्रत्येक घट–अघट अर्थात् घटभिन्न सारे जगत् से भिन्न हैं इसलिए उसमें 'घटः घटः' यह एक–सी प्रतीति होती है। इसलिए बौद्धों के मत में 'अपोह' ही शब्द का अर्थ होता है। उसी में संकेतग्रह मानना चाहिये

पहले आचार्य मम्मट ने अर्थ के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप से तीन भेद बतलाया। इनमें से वाच्यार्थ को मुख्यार्थ नाम से भी कहा जाता है 'मुखमिव मुख्यः' इस विग्रह में 'शाखादिभ्यो यत्' सूत्र से य' सूत्र से यत्–प्रत्यय होकर मुख्य–शब्द सिद्ध होता है। जैसे शरीर के सारे अवयवों में मुख सबसे प्रधान है और सबसे पहले दिखलायी देता है उसी प्रकार वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य सब अर्थों में वाच्यार्थ सबसे प्रधान और सबसे पहले उपस्थित होने वाला अर्थ है इसलिए मुख के समान होने से उसको 'मुख्यार्थ' कहा जाता है। उस वाच्यार्थ या मुख्यार्थ का बोधन कराने वाला जो शब्द का व्यापार है उसको 'अभिधा' व्यापार कहते हैं।

अतः यहाँ वाच्यार्थ को ही मुख्यार्थ कहा जाता है। इस बात को ग्रन्थकार आगे कहते हैं–

'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।।'

अर्थात् वह साक्षात् संकेतिक अर्थ मुख्य अर्थ कहलाता है, और उस का बोधन कराने में इस शब्द का जो व्यापार होता है वह अभिधा व्यापार–शक्ति कहलाता है।

3.3 लक्षणा–वृत्ति

वाचक शब्द के निरूपण के पश्चात् लाक्षणिक शब्द का स्वरूप बतलाना है। अत एव आचार्य मम्मट सर्वप्रथम लक्षणा का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। शब्द के जिस व्यापार द्वारा मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ लक्षित होता है। वह लक्षण–वृत्ति कहलाती है। इसी बात को मम्मटाचार्य ने निम्नलिखित कारिका में इस प्रकार कहा है–

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।।

अर्थात् मुख्य अर्थ का बाध होने पर और उस मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध (योग) होने पर प्रसिद्धि (रूढ़ि) से या प्रयोजन से जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह शब्द में आरोपित वृत्ति या व्यापार लक्षणा कहलाती है। अभिधा वृत्ति से इसका भेद प्रकट करने के लिए 'आरोपिता क्रिया' इस पद को लक्षणा का विशेषण बनाया। उक्त कारिका की वृत्ति में 'आरोपिता क्रिया' को और स्पष्ट करने के लिए 'सान्तरार्थ निष्ठः शब्दव्यापारः' यह अर्थ किया। अधिकांश टीकाकारों के अनुसार इसका भाव यह है कि लक्षणा एक ऐसा व्यापार है जो साक्षात् रूप से वाच्यार्थ में रहता है, किन्तु परस्पर सम्बन्ध से शब्द में रहता है। उदाहरण के लिए 'गंगायां घोषः' में 'गंगा' शब्द से

अभिधा वृत्ति द्वारा 'गङ्गाप्रवाहः' अर्थ का बोध होता है। यदि वाच्यार्थ है जो 'गङ्गातट' को लक्षित करता है। इस प्रकार लक्ष्यार्थ (गंगातट) के बोधन का व्यापार वस्तुतः वाच्यार्थ (गंगाप्रवाह) में है, तथापि वाच्यार्थ के धर्म (व्यापार) का शब्द में आरोप कर लिया जाता है तथा शब्द को लाक्षणिक कहा जाता है अतः लक्षणा शब्द का आरोपित व्यापार है।

विद्यार्थियों! अब हम प्रस्तुत कारिका के प्रत्येक पदों पर क्रमशः विचार करेंगे–

मुख्यार्थबाध–मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग (तद्योग) तथा रूढ़ि अथवा प्रयोजन से तीनों समुदित रूप से ये लक्षणा के हेतु हैं। जैसा कि ग्रन्थकार ने स्वयं ही कहा है–**मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः।** मुख्यार्थबाध का अभिप्राय यह है कि शब्द का जो वाक्यार्थ है वह अनुपपन्न हो जाये (अन्वयानुपपत्ति) तो लक्षणा होती है।

मुख्यार्थयोग–शब्द से जिस अन्य अर्थात् अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है उसका मुख्य अर्थ से सम्बन्ध होता है। वह सम्बन्ध सामीप्य आदि किसी प्रकार का हो सकता है।

रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्–कहीं रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण शब्द से अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है और कहीं किसी विशेष प्रयोजन को ध्यान में रख कर लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

लक्षणा के हेतु में–1. मुख्यार्थबाध, 2. मुख्यार्थयोग तो सभी लक्ष्यार्थों में समान है किन्तु कहीं तो रूढि हेतुक लक्षणा होती है, कहीं प्रयोजनहेतुक, अतः इस विषय में विभाग है। इसी से ग्रन्थकार ने साथ–साथ दो उदाहरण दिये हैं।

'कर्मणि कुशलः' यह रूढि के कारण होने वाली लक्षणा का उदाहरण है। यहाँ लक्षणा की परिभाषा इस प्रकार घटित होती है–कुशल शब्द का साक्षात् (मुख्य) अर्थ है–कुश या दर्भ नामक घास को लाने वाला (कुशान् दर्भान् लाति इति) 'कर्म में कुशल है' यहाँ कुशा–ग्राहक रूप अर्थ संगत नहीं होता। इस मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। इस असंगति का निराकरण करने के लिए यह शब्द 'दक्ष' या 'चतुर' रूप लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन करता है। कैसे? कुशा के पत्ते बड़े तीक्ष्ण होते हैं। वे लाने वाले के हाथ काट देते हैं अतः 'कुशोत्पाटन' या 'कुशानयन' के लिए विवेकशीलता की आवश्यकता है। वैसी ही विवेकशीलता किसी कार्य को भली–भाँति करने के लिए भी अपेक्षित है। यही 'साधर्म्य' सम्बन्ध है। फिर दक्ष या चतुर अर्थ ही क्यों हो जाता है? क्योंकि लोक में 'कुशल' शब्द का 'दक्ष' या 'चतुर' अर्थ प्रसिद्ध (रूढ़) है। इस प्रकार 'कर्मणि कुशलः' में कुशल शब्द की 'दक्ष' अर्थ में लक्षणा होती है।

गंगायां घोषः–यह दूसरा उदाहरण प्रयोजनवती लक्षणा का है। तथा हि–'गंगायां घोषः' का सीधा–सा अर्थ है गंगा में घोष अर्थात् घर है। किन्तु गंगा शब्द का मुख्य अर्थ है जलधारा या प्रवाह और उस पर घोष हो नहीं सकता। वह घोष का आधार नहीं हो सकता अतः मुख्यार्थ का बाध हो जाता है तथा यहाँ प्रयोजन के कारण गंगा से सम्बद्ध तट में लक्षणा मानी जाती है–गंगातट गंगा की धारा के समीप है। अतः गंगा के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध है। 'गंगा' शब्द से गंगा–तट का लक्षणा द्वारा बोध कराने में प्रयोजन यह है कि इससे शीतलता, पावनता आदि की प्रतीति होती है, क्योंकि गंगा में शीतलता पावनता है। यदि 'गंगातटे घोषः' अर्थात् गंगा तीर पर घोष है' ऐसा वाक्य–प्रयोग किया जाय तो शीतलता–पावनतादि की वैसी प्रतीति नहीं होगी, गंगा से दूर भी तो गंगातीर पर 'घोष' हो सकता है। जहाँ गंगा की शीतलता

पावनतादि का कोई सम्बन्ध न हो। अतएव 'गंगायां घोष' आदि में गंगाशब्द की गंगातीर में लक्षणा होती है।

अब आचार्य मम्मट प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद करते हैं–शुद्धा और गौणी। शुद्धा लक्षणा के भी दो भेद करते हैं–1. उपादान लक्षणा तथा 2. लक्षण–लक्षणा। उपादान–लक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई शब्द अपने मुख्यार्थ की संगति के लिए स्वसम्बद्ध किसी अन्य अर्थ को प्रस्तुत कर लेता है जैसे–कुन्ताः प्रविशन्ति। लक्षणलक्षणा वहाँ होती है, जहाँ कोई शब्द अन्य अर्थ के लिए अपने अर्थ का त्याग कर देता है, जैसे–'गंगायां घोषः' इत्यादि। इसी बात को मम्मट ने प्रस्तुत कारिका में कहा है–

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।।

अर्थात् अपनी (मुख्य अर्थ की) अन्वयसिद्धि के लिए दूसरे (अमुख्य) अर्थ को उपस्थित करना उपादान कहलाता है तथा दूसरे (अमुख्य) तीरादि के लिए अपने (शब्दार्थ, प्रवाहादि) को समर्पित कर देना या त्यागना लक्षण लक्षणा कहलाती है। इस प्रकार उपादान और लक्षण रूप से वह दो प्रकार की (उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा) शुद्धा लक्षणा ही कही गई है, (गौणी के ये भेद नहीं होते है)।

3.3.1 उपादान–लक्षणा के दो उदाहरण

'कुन्ताः प्रविशन्ति' (भाले घुस रहे हैं) और 'यष्टयः प्रविशन्ति' (लाठियाँ घुस रही हैं) इत्यादि वाक्यों में 'कुन्त' आदि पदो के द्वारा अपने (अचेतनरूप में) प्रवेश (क्रिया) की सिद्धि के लिए अपने से संयुक्त (अर्थात् कुन्तधारी) पुरुषों का आक्षेप द्वारा बोध कराया जाता है। इसलिए स्वार्थ का परित्याग किये बिना अन्य अर्थ के ग्रहणरूप अथवा स्वार्थ के भी ग्रहणरूप उपादान से यह लक्षणा है, अतः यह उपादान–ग्रहण कहलाती है।

3.3.2 लक्षण–लक्षणा का उदाहरण–

प्रिय विद्यार्थियों! अब क्रमप्राप्त 'लक्षण–लक्षणा' का 'गंगायां घोषः' यह उदाहरण देते हैं। 'गंगायां घोषः' इसमें वाक्य के भीतर प्रयुक्त हुए घोष के अधिकरणत्व की सिद्धि के लिए 'गङ्गा' शब्द अपने जलप्रवाहरूप मुख्य अर्थ का परित्याग कर देता है, इसलिए इस प्रकार के उदाहरणों में यह 'लक्षण–लक्षणा' कहलाता है।

उक्त दोनों प्रकार की लक्षणा उपचार से मिश्रित न होने के कारण शुद्धा है।

उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेण अमिश्रितत्वात् इस पंक्ति से विदित होता है कि मम्मट के मत में उपचार से रहित लक्षणों 'शुद्धा' तथा उपचार से युक्त लक्षणा 'गौणी' कही जाती है।

उपचार का लक्षण **''उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीति स्थगनमात्रम्''** यह किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनके भेद की प्रतीति न होना 'उपचार' कहलाता है। जैसे किसी पुरुष या बालक में शौर्य, कौर्य आदि सादृश्यातिशय के कारण 'सिंहो माणवकः' यह बच्चा शेर है' आदि प्रयोग उपचार–मूलक होते हैं, इसलिए गौण प्रयोग कहे जाते हैं। इन सबमें गौणी लक्षणा

होती है और जहाँ सादृश्य–सम्बन्ध के अतिरिक्त सामीप्य आदिरूप कोई अन्य सम्बन्ध लक्षणा का प्रयोजक होता है वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। इस प्रकार मम्मटाचार्य ने उपचार के अमिश्रण तथा मिश्रण को शुद्धा तथा गौणी लक्षणा का भेदक धर्म माना है।

3.3.3. शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के दो–दो भेद

इस प्रकार शुद्धा के उपादान–लक्षणा तथा लक्षण–लक्षणा इन दो भेदों के करने के बाद ग्रन्थकार ने शुद्धा और गौणी दोनों लक्षणा के सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो–दो भेद प्रतिपादित किया है और उन चारों के साथ आदि के उपादान–लक्षणा तथा लक्षण–लक्षणा इन दोनों भेदों को जोड़कर लक्षणा के कुल छः भेद निरूपित किया है। पहले सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद करते हैं–

सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

अर्थात् जहाँ आरोप्यमाण (उपमान) तथा आरोपविषय (उपमेय) दोनों शब्दतः कथित होते हैं वह दूसरी सारोपा लक्षणा कहलाती है। तात्पर्य यह है कि उपमान है आरोप्यमाण तथा उपमेय है आरोप्य विषय, जहाँ इन दोनों के स्वरूप को बिना छुपाए सामानाधिकरण्य से शब्दतः निर्देश किया जाता है वहीं सारोपा लक्षणा होती है।

विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।।

अर्थात् विषयी (आरोप्यमाण, उपमान) के द्वारा दूसरे (अर्थात् आरोपविषयरूप उपमेय) का अपने भीतर अन्तर्भाव कर लिये जाने पर वह साध्यवसानिका लक्षणा हो जाती है।

इस प्रकार से सारोपा तथा साध्यवसानारूप दोनों भेद सादृश्य से तथा सादृश्य को छोड़कर अन्य सम्बन्ध से सम्पन्न होने पर गौणी तथा शुद्धा लक्षणा के भेद समझने चाहिए।

3.3.4 गौणी सारोपा तथा साध्यवसाना के उदाहरण–

यहाँ ग्रन्थकार ने गौणी सारोपा लक्षणा के लिए 'गौर्वाहीकः' और 'गौरयम्' को गौणी साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण–रूप में प्रस्तुत किया है। 'गौर्वाहीकः अर्थात् 'वाहीक देश का वासी पुरुष गौ है।'

यहाँ 'गौ' आरोप्यमाण (उपमान) है और वाहीक आरोपविषय (उपमेय) है। दोनों का सामानाधिकरण्य से शब्दतः प्रतिपादन इस वाक्य में है। इसलिए दोनों के स्वरूप के अनपह्नुत होने के कारण यह सारोपा लक्षणा का उदाहरण है। इसके विपरीत 'गौरयम्' में आरोपविषय वाहीक का शब्दतः उपादान नहीं है, वह आरोप्यमाण गौ के द्वारा निगीर्ण हो गया है। इसलिए यह साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है। सादृश्यमूलक होन के कारण दोनों गौणी लक्षणा के उदाहरण है।

3.3.5 शुद्धा सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण–

इस प्रकार गौणी–सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण देने के बाद शुद्धा–सारोपा तथा शुद्धा–साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण देते हैं–**''आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ च सादृश्यात् अन्यत् कार्यकारण–भावादिसम्बन्धान्तरम्।''**

अर्थात् 'घी आयु है' अथवा 'यह (घी) आयु ही है' इत्यादि में सादृश्य से भिन्न कार्य–कारण–भाव आदि अन्य सम्बन्ध (लक्षण के प्रयोजक हैं। इस प्रकार के उदाहरणों

में कार्य–कारण भाव सम्बन्ध पूर्वक आरोप तथा अध्यवसान होते हैं। अर्थात् 'आयुर्घृतम्' में आरोप्यमाण आयु तथा आरोपविषय घृत दोनों के अनपह्नुत स्वरूप अर्थात् शब्दतः उपात्त होने से शुद्धा–सारोपा तथा 'आयुरेवेदम्' में आरोपविषय घृत के शब्दतः उपात्त न होने अर्थात् अपह्नुत–स्वरूप होने से साध्यवसाना–लक्षणा होती है।

'लक्षणा तेन षड्विधा।'

यहाँ तक ग्रन्थकार ने लक्षणा के छह भेदों का निरूपण किया। आदि के उपादान लक्षणा तथा लक्षण– लक्षणारूप दोनों भेदों के साथ शुद्धा तथा गौणी दोनों में से प्रत्येक के सारोपा तथा साध्यवसाना के भेद से कुल छह भेद हो जाते हैं।

व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने।

अर्थात् रूढ़िगत भेदों में व्यंग्य से रहित तथा प्रयोजन मूलक भेदों में लक्षणा व्यंग्य के सहित होती हैं। क्योंकि प्रयोजन व्यंजना–व्यापार से ही जाना जा सकता है। और वह व्यङ्ग्य प्रयोजन कहीं गूढ (दुर्ज्ञेय, सहृदयैकगम्य) और कहीं अगूढ़ (स्पष्ट, सर्वजनसंवेद्य) होता है।

गूढ व्यङ्ग्य का उदाहरण है–

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरूणिमोद्गमो मोदते।।

अर्थात् मुख पर मुस्कुराहट खिल रही है, बांकपन दृष्टि का दास हो रहा है, चलने में हाव–भाव छलक रहे हैं, बुद्धि मर्यादा का अतिक्रमण कर रही है। छाती पर स्तनों की कलियाँ निकल रही हैं। जांघें अवयवों के बन्ध से उभर रही हैं। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उस चन्द्रबदनी के शरीर में यौवन का उभार किलोल कर रहा है।

प्रस्तुत पद्य में 'मुख में स्मित–मुस्कुराहट के खिलने का वर्णन किया गया है, किन्तु विकास या खिलना तो फूलों का धर्म है, मुख में उसका सम्बन्ध लक्षणा से ही किया जा सकता है। उस लक्षणा से असंकुचित रूप सम्बन्ध द्वारा स्मित का अतिशय लक्षित होता है और मुख के सौरभ आदि व्यङ्ग्य है। इस प्रकार इस श्लोक में जो व्यङ्ग्य अर्थ है वह सर्वजनसंवेद्य नहीं है। अपितु केवल सहृदयों के ही समझने योग्य है अतएव उसको गूढ़–व्यङ्ग्य के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है।

3.3.6 अगूढ़ व्यङ्ग्य का उदाहरण है–

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि।।

अर्थात् लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ख मनुष्य भी चतुरों के व्यवहार को समझने वाले हो जाते हैं जैसे यौवन का मद ही कामिनियों को ललितों का उपदेश कर देता है।

इस श्लोक में 'उपदिशति' यह पद अगूढ़ व्यङ्ग्य है। क्योंकि शब्द द्वारा अज्ञातार्थ का ज्ञापन रूप 'उपदेश' चेतन का धर्म है वह यौवन–मद में सम्भव नहीं है। इसलिए उससे 'आविष्करोति' अर्थ लक्षित होता है।

इस प्रकार यह लक्षणा व्यङ्ग्य की दृष्टि से तीन प्रकार की कही गई है।

1. अव्यंग्या अर्थात् व्यङ्ग्य से रहित रूढि लक्षणा।

2. गूढव्यङ्ग्या तथा 3. अगूढ़व्यङ्ग्या

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने लक्षणा–वृत्ति का भेद–प्रभेद सहित विवेचन किया है।

3.4 व्यंजना–वृत्ति

यद्यपि काव्यप्रकाशकार ने व्यंजना का कोई स्पष्ट लक्षण निर्दिष्ट नहीं किया है परन्तु प्रयोजन की वाच्यता का निराकरण करते हुए व्यंजना की आवश्यकता को बतलाते हैं–

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया।

प्रयोजनविशेषका प्रतिपादन करने की इच्छा से जहाँ लक्षणा से लाक्षणिक शब्द का प्रयोजन किया जाता है वहाँ अनुमान आदि अन्य किसी साधन या उपाय से उस प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती है अपितु उसी शब्द से होती है। और उस के बोधन में शब्द का व्यञ्जना के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं होता है।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं–

'नाभिधा समयाभावात्।'

अर्थात् संकेतग्रह न होने से अभिधावृत्ति प्रयोजन की बोधिका नहीं है।

'गंगायां घोषः' इत्यादि में जो पावनत्व आदि धर्म तट में प्रतीत होते हैं उनमें गंगा आदि शब्दों का संकेतग्रह नहीं है, अतः अभिधा से उनका ज्ञान नहीं हो सकता है।

आगे प्रयोजन की लक्ष्यता का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि लक्षणा के प्रयोजक मुख्यार्थबाध आदि हेतुओं के होने से लक्षणा भी प्रयोजन की बोधिका नहीं हो सकती है। जैसे–

'हेत्वभावान्न लक्षणा।
मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः।

अभिप्राय यह है कि मुख्यार्थ का बाध और उसके साथ–साथ मुख्यार्थ से सम्बन्ध तथा रूढि एवं प्रयोजन में से कोई एक आदि लक्षणा के तीन कारण है। वे तीनों यहाँ नहीं पाये जाते हैं। अतः प्रयोजक–सामग्री के न होने से प्रयोजन का बोध लक्षणा से भी नहीं हो सकता है।

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन्न च शब्दः स्खलद्गतिः।।

अर्थात् तटरूप लक्ष्यार्थ मुख्य अर्थ नहीं है, न उसका यहां बाध होता है, और न उसका शैत्यपावनत्वादि फल के साथ सम्बन्ध है, और न इस प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने में कोई प्रयोजन है और न प्रयोजन के विषय में लाक्षणिक शब्द स्खलद्गति आर्थत् मुख्यार्थबाधादि के बिना प्रयोजन के प्रतिपादन में असमर्थ या मुख्यार्थ बाध आदि के बाद ही प्रयोजन के प्रतिपादन में समर्थ है।

शब्द स्खलद्गति नहीं हैं, इसका अभिप्राय यह है कि गंगा शब्द शैत्य–पावनत्व रूप प्रयोजन को बोधित करने में बाधितार्थ नहीं है। बिना मुख्यार्थबाधके भी वह शैत्य–पावनत्व को व्यक्त कर सकता है।

मुख्यार्थ का बोध होने पर वह शैत्य–पावनत्व को नहीं, अपितु तट को ही बोधित करता है।

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद व्यापृतिरंजनम्।।

अर्थात् संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के वाचकत्व के किसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर उससे भिन्न अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द का व्यापार व्यञ्जना अर्थात् अभिधामूला–व्यञ्जना कहलाता है।

एकार्थनियामक हेतु–अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में संयोगादि के द्वारा नियन्त्रण हो जाने पर भी उससे जोअन्य अर्थ की प्रतीति होती रहती है उस प्रतीति को कराने वाला शब्द–व्यापार 'अभिधानूला–व्यंजना नाम से कहा जाता है।

''संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं षब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।

1. संयोग, 2. विप्रयोग, 3. साहचर्य, 4. विरोधिता, 5. अर्थ, 6. प्रकरण, 7. लिङ्ग, 8. अन्य शब्द की सन्निधि, 9. सामर्थ्य, 10. औचित्य, 11.देश, 12. काल, 13. पुल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग आदि रूप व्यक्ति और 14. स्वर आदि अनेकार्थक शब्द के अर्थ का निर्णय न होन पर विशेष अर्थ में निर्णय कराने के कारण होते हैं।

3.5 सारांश

इस इकाई में बताया गया जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ को अभिधा–वृत्ति से प्रकाशित करता है वह वाचक शब्द कहलाता हे। वैयाकरणों का मत है कि संकेतग्रह के चार विषय है–जाति, गुण, क्रिया, संज्ञा। किन्तु पूर्वमीमांसकों ने केवल जाति में संकेत को स्वीकार किया है। नव्य–नैयायिकों ने न केवल व्यक्ति में और न जाति में बल्कि जाति–विशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह माना है। बौद्धों ने संकेतग्रह के विषय में अतद्व्यावृत्ति को बताया है। इन दोनों की संक्षिप्त चर्चा की गई है। इस प्रकार साक्षात्संकेतित अर्थ ही मुख्यार्थ है, उसके प्रतिपादन में शब्द का मुख्य–व्यापार अभिधा कहलाता है।

अनेकार्थक शब्दों में अभिधा का आश्रय करके ही व्यंजनावृत्ति से द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है और वही अभिधामूला व्यंजना कही जाती है।

3.6 शब्दावली

1. यदृच्छा – संज्ञाशब्द, द्रव्यशब्द, नामशब्द।
2. व्यापार – शक्ति, वृत्ति।

3. मुख्यः – मुखमिव मुख्यः।
4. घोष – अहीरों की झोपड़ी/आभीरपल्ली।
5. रूढि– प्रसिद्धि, ख्याति।
6. प्रतिपत्ति – प्रतीति।
7. आरोपित – कल्पित।
8. उपादान – ग्रहण।

3.7 बोध प्रश्न

1) मुख्यार्थ को प्रकाशित करने वाली वृत्ति का निरूपण करें।
2) संकेत ग्रह के विषय में विभिन्न शास्त्रों के मत को प्रस्तुत करते हुए आचार्य मम्मट के अभिमत पक्ष का प्रतिपादन करें।
3) लक्षणा–वृत्ति के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए उसके भेदों की चर्चा करें।
4) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।

   उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।।

   इस कारिका की व्याख्या करें।
5) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।

   फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया।।

   इस कारिका की व्याख्या करें।
6) अभिधामूला व्यंजना के कितने भेद है? सभी भेदों का संक्षिप्त परिचय सोदाहरण देवें।

3.8 उपयोगी–पुस्तकें

1. साहित्यदर्पण – विश्वनाथ कविराज
2. अमरकोश – अमरसिंह
3. वाक्य–पदीयम् – भर्तृहरि
4. महाभाष्यम् – महर्षि पतंजलि

इकाई 4 वाक्यदोष और रसदोष, काव्यगुण–निरूपण

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप–

- 'दोष किसे कहते हैं' इस प्रश्नका समाधान कर सकेंगे।
- वाक्यगत दोषों के बारे में समझ सकेंगे।
- रसगत दोषों की पहचान कर सकेंगे।
- काव्य–गुणों का परिचय देने में सक्षम हो सकेंगे।
- त्रिविध काव्य–गुणों को बतानें में समर्थ हो सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है उसको दोष कहते हैं। मुख्यार्थ पद का अभिप्राय यहाँ वाच्यार्थ नहीं अपितु रस है। इसलिए मुख्यतः रस के अपकर्षजनक कारण को दोष कहते हैं। दोष का विभाजन करते हुए आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम दोषों की तीन प्रकार से विभाजित किया रसदोष, पददोष एवं अर्थदोष। इसके पश्चात पददोष को पुनः पद–दोष, पदांश दोष, वाक्यदोष में विभाजित किया है। इस इकाई में हम 20 प्रकार के वाक्यदोषों की चर्चा करेंगे।

रस–दोष वे दोष हैं जिनसे रस की प्रतीति में प्रत्यक्ष–रूप से बाधा उत्पन्न होती है, ऐसे दोषों की संख्या 13 है। रस–दोष के सभी भेदों की चर्चा सोदाहरण इस इकाई में की गई है।

आत्मा के शूरता–वीरता आदि धर्मों की तरह रस में अचल रूप से स्थित काव्य के उत्कर्ष के कारक जो धर्म वे गुण कहलाते हैं। माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों की लक्षण तथा उदाहरण सहित चर्चा इस इकाई में की जायेगी।

मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है उसको दोष कहते हैं। रस ही मुख्य अर्थ है। इसलिए रस के अपकर्षजनक कारण को दोष कहते हैं। परन्तु उसका रस का आश्रय होने से वाच्य अर्थ भी मुख्य अर्थ कहलाता है। इसलिए रस के साथ चमत्कारी वाच्य का अपकर्षकारक भी दोष कहलाता है। उसको अर्थदोष कहते हैं। शब्दादि रस तथा वाच्यार्थ इन दोनों के बोधन में उपकारक सहायक होते हैं इसलिए उनमें भी वह दोष रहता है और वह पददोष कहलाता है। दोष का लक्षण आचार्य मम्मट ने कुछ इस प्रकार दिया है–

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।।
हतिरपकर्षः। शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद् वर्णरचने।

कारिका में आये हुए 'हति' शब्द का अर्थ विनाश नहीं अपितु अपकर्ष है। 'शब्दाद्याः' यहाँ आद्य पद के ग्रहण से वर्ण और रचना का ग्रहण होता है।

आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम दोषों को तीन प्रकार से विभाजित किया रसदोष, पददोष एवं अर्थदोष। इसके पश्चात् पददोष को पुनः तीन भागों में विभाजित किया है। पददोष, पदांशदोष, वाक्यदोष। सम्प्रति हम वाक्यगत दोषों की चर्चा करेंगे।

4.2 वाक्यगत दोष

आचार्य मम्मट ने पद, वाक्य तथा पदैकदेश में रहने वाले 16 सामान्य दोषों का निरूपण करके आगे केवल वाक्य में रहने वाले 20 दोषों का निरूपण किया है। सबसे पहले उनका उद्देश्य अर्थात् नाममात्र से कथन करते हैं–

प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम्।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्।।
अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम्।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धि हतम्।।
भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा।।

अर्थात्– 1. प्रतिकूलवर्णता, 2. उपहतविसर्गता, 3. विसंधि, 4. हतवृत्तता, 5. न्यूनपदता, 6. अधिकपदता, 7. कथितपदता, 8. पतत्प्रकर्षता, 9. समाप्तपुनरात्तता, 10. अर्थान्तरैकवाचकता, 11. अभवन्मतसम्बन्ध, 12. अनभिहितवाच्यता, 13. अस्थानपदता, 14. अस्थानसमासता, 15. सङ्कीर्णता, 16. गर्भितता, 17. प्रसिद्धिविरोध, 18. भग्नप्रक्रमता, 19. अक्रमता, 20. अमतपरार्थता को मिलाकर ये 20 प्रकार के वाक्यदोष होते हैं।

अब क्रमशः सभी वाक्यदोषों का उदाहरण सहित निरूपण करते हैं–

1. प्रतिकूलवर्णता–

वर्णों का रचनानुगुणत्व के विपरीत अर्थात् जिस रस में जिन वर्णों का प्रयोग विहित है, उसके विपरीत वर्णों का प्रयोग प्रतिकूलवर्ण वाक्यदोष होता हैं।

जैसे– शृङ्गार रस में

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्।

कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्त्तिमुद्धर।।

अर्थात् हे कलकण्ठि दूती अथवा नायिका की सखी उत्कण्ठा से कण्ठतक भरे हुए मुझको थोड़ी देर के लिए शंख के समान उतार–चढ़ाव युक्त गर्दनवाली कम्बुकण्ठी प्रियतमा के कण्ठालिंगन करने का अवसर दो और इस प्रकार मेरे गले में अटके हुए प्राणों को कण्ठ के क्लेश को बचाओ।

शृंगार रस में श्रुतिकटु होने से टवर्गका प्रयोग वर्जित माना गया है, जैसा अष्टम् उल्लास में सूत्र 98वें में अटवर्गा इत्यादि से बतलाया गया है। कवि ने इस श्लोक में अनेक बार इसका प्रयोग कर दिया है, इसलिए प्रतिकूल वर्णों के प्रयोग के कारण यह दूषित हो गया है।

2. उपहतविसर्गता

उपहतविसर्गता की व्युत्पत्ति है–''उपहत उत्वं प्राप्तो वा विसर्गो यत्र तत्'' उपहत अर्थात् उत्व अथवा ओ–रूपता को प्राप्त विसर्ग तथा लोप को प्राप्त विसर्ग अर्थात् जहाँ विसर्ग को ओ हो जाता है या जहाँ विसर्गों का लोप हो जाता है। उपहतविसर्गता के ये दो भेद होते हैं। उन दोनों के उदाहरण–

धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः।।

अर्थात् इस संसार में वही राजा पण्डित, सुशिक्षित, चतुर और सुन्दर है, जिसके सेवक बल का अभिमान करने वाले अर्थात् बलवान् उसकी भक्ति और बुद्धि से प्रभावित हों।

यहाँ श्लोक के पूर्वार्ध में धीरो, विनोतो, निपुणो और नृपो इन चारों पदों मे विसर्गों का ओ रूप हो गया है। पहले तीन स्थलों में 'हशि च' इस सूत्र से उ और अन्तिम में 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इस सूत्र से विसर्ग स्थानीय रु को उ और गुण होकर ओ हो गया है। उत्तरार्ध में 'भृत्याः', 'बलोत्सिक्ताः' प्रभक्ताः इन प्रथमा के बहुवचन के प्रयोगों के अन्त में विसर्ग थे, परन्तु उनको 'ससजुषो रुः' सूत्र से होकर 'भोभघोऽधोऽ– पूर्वस्य योऽशि' सूत्र से य होकर 'हलि सर्वेषाम्' इस सूत्र से य का लोप हो जाता है। इस प्रकार यहाँ विसर्गों का लोप और पूर्वाद्ध में विसर्गों को ओत्व करके अनेक बार एक साथ ही प्रयुक्त किया गया है। इसलिए उपहतविसर्ग के क्रमशः ओत्वविसर्गता और लुप्तविसर्गतारूप दोनों भेदों में वाक्यदोष होते हैं।

3. विसन्धि

विसन्धि की व्युत्पत्ति है–''विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम्, विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च।''

अर्थात् जहाँ सन्धि होनी चाहिये वहाँ सन्धि न होना विसन्धि दोष कहलाता है सन्धिस्थल में सन्धि न करने के तीन कारण हो सकते हैं। पहला कारण तो वाक्य में सन्धि को नित्य न मानकर वक्ता की विवक्षा के अधीन माना जाता है।

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।

इस नियम के अनुसार वाक्य में सन्धि करना या न करना वक्ता की इच्छा के अधीन होने से सन्धि न की जाय यह सन्धि न करने का कारण हो सकता है। दूसरे दो भेद शास्त्रीय नियम से प्राप्त होते हैं। एक तो वह जहाँ प्रगृह्यंसज्ञा हो जाने के कारण सन्धि नहीं होती है। दूसरे वे स्थल जहाँ विसर्गों का लोप आदि होने के बाद गुण आदि रूप सन्धि प्राप्त होती है, परन्तु इसके प्राप्त होने पर लोप आदि असिद्ध हो जाता है। इनमें से विवक्षाधीन विसन्धि तथा प्रगृह्संज्ञानिमित्तक विसन्धि, इन दो भेदों का एक सम्मिलित उदाहरण पर प्रसिद्धि हेतुक विसन्धि का एक अलग उदाहरण ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किया है।

इसके अतिरिक्त वाक्य में अश्लीलता का आ जाना और सन्धि होकर क्लिष्ट रूप बन जाना यह दोनों भी विसन्धि दोष के ही भेद हैं। इस प्रकार विसन्धि अर्थात् सन्धिवैरूप्य के भेदों का निरूपण आगे करते हैं–

विसन्धि अर्थात् सन्धि–वैरूप्य तीन प्रकार का होता है, एक सन्धि का विश्लेष, अश्लीलता और कष्टता। उनमें से पहला अर्थात् सन्धिविश्लेष भी तीन प्रकार का होता है। उनमें से विवक्षाधीन तथा प्रगृह्यसंज्ञानिमित्तक दो प्रकार के सन्धिविश्लेष का एक ही उदाहरण आगे दिखलाते हैं। जैसे–

राजन्! विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः।।

हे राजन्! आपके वे लोकोत्तर चरित्र जो रसातल के गहन अन्धकार में भी चन्द्रमा के समान प्रकाशमान कान्ति को धारण करते हैं, अत्यन्त शोभित होते हैं और आपके अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उचित कार्य में लगे बुद्धि बल तथा बाहुबल, दोनों विजयसम्पत्ति का विस्तार करते हुए अत्यन्त शोभित हो रहे हैं।

इस श्लोक में प्रथम और द्वितीय चरण के बीच में 'तानि इन्दोः' में 'अकः सवर्णे दीर्घ' इस सूत्र से प्राप्त होने वाला दीर्घ, कवि ने विवक्षाधीन मानकर नहीं किया है। परन्तु इस सन्धि के न करने के कारण कवि की अशक्ति सूचित होती है।

अश्लीलताजन्य विसन्धिदोष का उदाहरण–

इस प्रकार सन्धिविश्लेष के उदाहरण देकर अब विसन्धिदोष के दूसरे भेद सन्धि की अश्लीलता का उदाहरण देते हैं–

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः।
अयमुत्तपते पत्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु।।

अर्थात् वेग से आकाश में उड़कर भयंकर चेष्टा से चलता हुआ यह श्येन (बाज) उत्तप्त हो रहा है। इससे इस कुंज में नायक की उपस्थिति सूचित होती है। इसलिए तुम यहाँ ही मनोकामना पूर्ण करो। यहाँ 'चलण्डामर' इस पद का एकदेश 'लण्डा' यह अंश पुरुष के लिंग का तथ 'रुचिङ्कुरू' का एकादेश 'चिंकु' पद स्त्री की योनि का सूचक है, इसलिए यहाँ सन्धि में अश्लीलता है।

कष्टताजन्य–विसन्धिदोष का उदाहरण–

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः।
नात्रार्जु युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक्।।

अर्थात् यहाँ मरूदेश के मध्य में यह विस्तीर्ण उर्वी एवं सुन्दर स्थिति वाले वृक्षों की पंक्ति है। यहाँ सीधे खड़े होकर चला नहीं जा सकता है इसलिए तनिक सिर झुका लो।

इसमें उर्वी असौ, तरु आली, मरु अन्ते, चारु अवस्थिति, अत्र ऋतु इन पदों में सन्धि होकर श्लोक का जो प्रकृत पाठ बन गया है, वह सुनने और अर्थज्ञान दोनों में ही कष्टदायक है। अतः यहाँ सन्धि के कारण कष्टताजन्य–विसन्धिदोष है।

4. हतवृत्तता

हतं लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु, रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम्।''

हत अर्थात् लक्षण का अनुसरण करने पर भी सुनने में अच्छा न लगने वाला अन्त लघु जिसमें गुरुभाव को प्राप्त नहीं होता है तथा रस के अनुरूप जिसका छन्द है वह तीन प्रकार का हतवृत्त है।

यह 'हतवृत्त' दोष भी तीन प्रकार का होता है। एक लक्षणानुसार होने पर भी अश्रव्य, दूसरा अप्राप्तगुरु भावान्तलघु और तीसरा रस के अननुरूप छन्द का प्रयोग।

अश्रव्य हतवृत्त का उदाहरण यथा–
अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात्।।

अर्थात् अमृत लोकोत्तर स्वादयुक्त अमृत ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शहद भी मधुर ही है। अन्य प्रकार का अस्वादु या फीका नहीं है। मधुर रसावाला आम का फल भी अत्यन्त मीठा होता है। परन्तु अन्य सब स्वादिष्ट वस्तुओं के रसों को जानने वाला एक भी व्यक्ति निष्पक्ष होकर यह बतलाये कि इस संसार में प्रिया के अधरोष्ठ से अधिक स्वादु और क्या कोई वस्तु है।

इस उदाहरण में 'यदिहान्यत् स्वादु स्यात्' यही अश्रव्य है।

इस श्लोक में हरिणी छन्द है। **'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ म्लौ गो यदा हरिणी तदा'** यह हरिणी छन्द का लक्षण किया गया है। इसके अनुसार 'वदतु यदिहा' के बाद यति होना चाहिये, परन्तु वह यति सुनने में अश्रव्य हो जाती है। इसलिए लक्षणका अनुसरण होने पर भी उसमें अश्रव्यता आ गयी है। इसको बदलकर 'वदतु मधुरं यत्स्यादन्यत् प्रियादशनच्छदात्' ऐसा पाठ कर देने पर दोष नहीं रहता है।

2. अप्राप्तगुरुभावान्तलघुरूपहतवृत्त

अर्थात् अन्त लघु जिसमें गुरुभाव को प्राप्त नहीं होता है। जैसे–

विकसितसहकारतारहारिपरिमलगुन्जितपुंजितद्विरेफः।
नवकिसलचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः।।

अर्थात् खिले हुए आमों को दूर फैले हुए तार और मनोहर सुगन्ध से उन्मस होकर गुंजार करते हुए भ्रमरों के समूह जिसमें चारणों के समान एकत्र हो रहे हैं और नवीन पत्र ही जिसका सुन्दर चमर है, इस प्रकार का ऋतुराज वसन्त मुनियों के मन को भी मोह लेता है।

प्रस्तुत पद्य अप्राप्तगुरुभावान्तलघु का उदाहरण है, इसमें प्रथम चरण के अन्त का यहाँ 'हारि' शब्द अप्राप्तगुरुभावान्तलघु है। 'हारिप्रमुदितसौरभ' यह पाठ उचित है।

3. रसाननुगुणहतवृत्तता का उदाहरण–

हा नृप! हा बुध! हा कविबन्धो विप्रसहस्रसमाश्रय! देव!
मुग्ध! विदग्ध! सभान्तररत्न! क्वासि गतः क्व वयं च तवैते।

अर्थात् हे राजन्! हे विद्वान्! हे कवियों के बन्धु! और हे सहस्रों ब्राह्मणों के आश्रय देव। हे सुन्दर मुग्ध! हे विद्वानों की सभा के मध्य रत्न रूप राजन! आप कहाँ चले गये और आपके प्रिय या आश्रित ये हम कहाँ रह गये हैं।

यह श्लोक राजा के लिए शोक से विलाप करते हुए लोगों का है। इसमें करुण–रस का प्राधान्य है। अतः करुणरस के अनुरूप 'मन्दाक्रान्ता' आदि छन्द का प्रयोग करना चाहिये था। जहाँ जो 'दोधक छन्द कवि ने प्रयुक्त किया है, वह करुणरस का व्यंजक नहीं है, अपितु यह छन्द हास्यरस का व्यंजक है अतः रसाननुगुण होने से यह हतवृत्तता' दोष का उदाहरण है।

5. न्यूनपदता

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पांचालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।।

अर्थात् उस राजसभा में पांचाली द्रौपदी को उस प्रकार की बाल तथा वस्त्र खींचे जाने की अवस्था को देखकर गुरु नाराज नहीं हुए, उनको क्रोध नहीं आया फिर वन मे वल्कल धारण कर चिरकाल बारह वर्ष तक व्याधों के साथ रहते रहे तब भी उनको क्रोध नहीं आया फिर विराट के घर में रसोइया आदि के अनुचित कार्यों को करके छिपकर जो हम रहे उस समय भी गुरु को क्रोध नहीं आया और आज भी उनको कौरवों पर तो क्रोध नहीं आ रहा है। पर मैं कौरवों पर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर नाराज होते हैं।

यहाँ तीनों चरणों में कर्त्तारूप में 'अस्माभिः' यह पद होना चाहिये था, उसके न होने से न्यूनपदता दोष हो जाता है। इसी प्रकार चतुर्थ चरण में खिन्ने इसके पूर्व 'इत्थं' यह पद भी कम है। उसके न होने से यहाँ न्यूनपदता दोष है।

6. **अधिकपदता**

स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसङ्क्रान्तनिशातशास्त्रतत्वः।
अविरुद्धसमन्वितोक्तियुक्तः प्रतिमल्लास्तमयोदयः स कोऽपि।।

अर्थात् किसी विद्वान का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि स्फटिक के समान अत्यन्त निर्मल स्वरूप, दुरुह निशात शास्त्रों का तत्त्व जिसके हृदय में, जिसकी बुद्धि में आरुढ़ है, जिसकी उक्तियाँ और तर्क वेदशास्त्रादि से अविरुद्ध तथा परस्पर समन्वित होते हैं और अपने विरोधियों के पराजय अस्तमयोदयः की उत्पत्ति जिससे होती है, इस प्रकार का वह कोई अपूर्व पुरुष है। यहाँ आकृति शब्द अधिक है 'स्फटिकनिर्मलः' पद ही पर्याप्त है।

7. **कथितपदता**

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीलापरिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु! कथय कस्य व्यंजयत्यंजसैव स्मरनरपतिलीलायौव– राज्याभिषेकम्।।

अर्थात् करतलीरूपी शय्या पर शयन करने के कारण हाथ की रगड़ से जिसकी पाण्डुता दूर हो गयी है जिसमें लालिमा का उदय हो गया है ऐसी तुम्हारी कपोलस्थली, हे सुतन्! यह बताओ किस सौभाग्यशाली के कामरूप राजा की लीलाओं के युवराजपदपर शीघ्र ही होने वाले अभिषेक को सूचित करती है।

यहाँ 'लीला' यह प्रथम चरण तथा चतुर्थ चरण में दो जगह प्रयुक्त हुआ, अतः कथितपद या पुनरुक्त है। 'स्मरनरपतिलक्ष्मी' पाठ ठीक है।

8. **पतत्प्रकर्षता**

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पंचाननो वर्तते।।

अर्थात् आज सिंहनी के स्नेह के प्रेमानन्द में सिंह बँध गया है, इसलिए उसके अभाव में निश्शंक होकर कौन–कौन सा घुर्घुर शब्द करने वाली नाक के कारण भंयकर सूअर कहाँ नहीं घुर्राता है, कौन–कौन हाथी किस कमलों के तालाब को कमलों से रहित करने को तैयार नहीं हो गया है और कौन–कौन से जंगली भैंसे किन वनों का उन्मूलन न कर देंगे।

यहाँ पहले तीन चरणों में वर्णों की रचना में जैसे कठोरता पायी जाती है, उस प्रकार की रचना चतुर्थ चरण में नहीं पायी जाती, इसलिए वहाँ पतत्प्रकर्ष दोष हो गया है।

9. **समाप्तपुनरात्तता**

क्रेंकारः स्मरकार्मुकस्य सुरतक्रीडापिकीनां रवो
झंकारो रतिमंजरीमधुलिहां लीलाचकोरीध्वनिः।
तन्व्याः कंचुलिकापसारणभुजाक्षेपस्खलत्कंकण
क्वाणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुस्वनः।।

अपने घरों को जाते हुए पथिकों के प्रति किसी कवि का वचन है कि घर पहुँच कर नायिका से मिलने के समय कृशांगी की चोली खोलने के लिए आपके प्रयत्न करने पर लज्जावश उसे रोकने के लिए नायिका का जो भुजाक्षेप हाथ चलाने से हिलते हुए कंकणों का शब्द जो कामदेव के धनुष का टंकार या सुरतक्रीडारूप कोकिलों की कूक या रतिरूप मंजरी के भौरों की झंकार अथवा लीलारूप चकोरी की ध्वनि अथवा नवयुवकों को नचाने के लिए बाँसुरी की ध्वनि है, वह तुम दोनों के नवयौवन के उद्दाम नृत्य के लिए तुम लोगों के प्रेम को खूब बढ़ावे। यहाँ श्लोक के प्रथम तथा द्वितीय चरण में 'क्वाणः' पद के विशेषण दिये गये है। चतुर्थ चरण में 'क्वाणः प्रेम तनोतु वो' इस मुख्य वाक्य के बाद समाप्त हुई विशेषण परम्परा में 'नववयोलास्याय वेणुस्वनः कहकर एक और विशेषण का प्रतिपादन कर दिया गया है। इसीलिए यह समाप्तपुनरात्तत्व दोष का उदाहरण है।

10. अर्द्धान्तरैकपदता–

जहाँ प्रथमार्द्ध का केवल एक पद उत्तरार्द्ध में कथन के लिए शेष रह जाता है, उसको 'अर्द्धान्तरैकपदता' कहा जाता है। यथा–

> **मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा**
> **विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः।**
> **तदिति जनकपुत्रो लोचनैरश्रुपूर्णैः**
> **पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च।।**

अर्थात् राजशेखरकृत 'बालरामायण' नाटक में रामचन्द्र के साथ सीता को भी वनवास के लिए छोड़ आने पर उसका समाचार सुमन्त्र दशरथ से कह रहे हैं कि–

वन जाते समय रास्ते में राहगीरों की साथ चलने वाली स्त्रियों ने आँखों में आँसू भरकर जनकराजपुत्री सीता को देखा और समझाया कि दर्भों से भरी भूमि पर हलके–हलके पैर रखकर चलो, धूप तेज हो रही है इसलिए साड़ी का पल्लु सिर पर डाल लो।

यहाँ तृतीय चरण के आदि में आया हुआ 'तत्' शब्द पूर्वाद्ध का भाग है धूप तेज है, इसलिए सिर पर पल्लु डाल लो, इस प्रकार हेतुरूप इस 'तत्' पद का पूर्वाद्ध में प्रयोग होना चाहिये था। परन्तु केवल इस एक पद का उत्तरार्द्ध में प्रयोग किया गया है, इसलिए यह 'अर्द्धान्तरैकपदता' रूप वाक्य–दोष का उदाहरण है।

11. अभवन्मतसम्बन्ध

अभवन्मतसम्बन्ध की व्युत्पत्ति है–**'अभवन्मतः इष्टः योगः सम्बन्धः यत्र तत्।'**

अर्थात् वाक्य में अभिमत अर्थात् इष्ट सम्बन्ध विद्यमान न हो उसको अभवन्मत दोष कहा जाता है। यथा–

> **येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभि–**
> **लीलापानभुवश्च नन्दनवनच्छायासु यैः कल्पिताः।**
> **येषां हुंकृतयः कृतामरपतिक्षोभाः क्षपाचारिणां**
> **किन्तैस्त्वत्परितोषकारि विहितं किंचित्प्रवादोचितम्।।**

अर्थात् जिन राक्षसों के प्रतापानलों ने देवताओं के हाथी ऐरावत की प्रसिद्ध मद की धाराएँ सुखा डालीं, जिन्होंने नन्दनवन को छाया में जगह–जगह अपने मद्यपान की भूमियों की रचना कर डाली और जिन राक्षसों ही हुंकारें देवराज को भी कम्पित कर देती थीं, क्या उन राक्षसों ने अपनी प्रसिद्धि प्रवाद के अनुरूप तुम्हारे लिए सन्तोषदायक कुछ कार्य किया।

यहाँ अप्रधान विशेषणपरक 'गौण पदों के परार्थ प्रधान या विशेष्य के लिए होने के कारण और परस्पर समानरूप होने से दो गौण पदों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है इस पूर्वमीमांसा के तृतीयाध्याय के प्रथमपाद के 22वें सूत्र में प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार लोक में 'यत' शब्द 'येषां' और 'यैः' पदों से निर्दिष्ट अर्थों का परस्पर समन्वय न होने से 'यैः' इस पद में विशेष्य की प्रतीति नहीं होती है। इसलिए अभिमत विशेषण–विशेष्य–भाव सम्बन्ध के न बनने से यहाँ 'अभवन्मतसम्बन्ध नामक वाक्यदोष माना जाता है। 'क्षपाचारिणां' के स्थान पर 'क्षपाचारिभिः' ऐसा पाठ कर देने पर विशेष्य भाग के आ जाने से समन्वय बन जाता है।

12. अनभिहितवाच्यता

अनभिहितवाच्यता से अभिप्राय है कि 'अवश्यवक्तव्यमनुक्तं यत्र' अवश्य कहने योग्य शब्द को जहाँ न कहा जाय वह वाच्य का अनभिधान नामक वाक्यदोष होता है। यथा–

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैरत्यद्भुरतैरपहृतस्य तथापि नास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेयसौन्दर्यसारसमुदायमयः पदार्थः।।

अनन्यसामान्य रामचन्द्र अथवा मुझ विदग्ध को देखे हुए और (चकार) से सुने हुए का भी ग्रहण करना चाहिये अद्‌भुत चरित्र के उत्कर्ष से वशीभूत होने पर भी यह शिव का धनुष इस रामचन्द्र ने ही तोड़ा है, इस बात पर विश्वास ही नहीं होता है। वस्तुतः यह सामने दिखलायी देने वाला रामचन्द्र कोई अनिर्वचनीय वीर बालक की आकृति का और अपरिमेय सौन्दर्यसार से बना हुआ पदार्थ है।

यहाँ 'तथापि' इस पद के द्वितीय वाक्यगतरूप से ही उत्पन्न होने से प्रथम वाक्य को अलग करने के लिए 'अपहृतोऽस्मि' इस रूप में अपहृतत्वरी विधि का कथन करना चाहिये।

13. अस्थानस्थपदता

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद्‌विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु।।

विपक्ष अर्थात् सपत्नी के सामने प्रियतम के द्वारा स्वयं गुंथकर स्थूल स्तनवाले वक्षःस्थल पर पहनायी गयी माला को जल में भींग जाने के कारण खराब हो जाने पर भी किसी स्त्री ने नहीं उतारा। क्योंकि गुण तो प्रेम में रहते हैं, वस्तु में नहीं।

यहाँ 'काचिन्न विजहौ' इस प्रकार काचित् के बाद न का प्रयोग करके कहना चाहिये। काचित् के पूर्व न का प्रयोग कर देने से अस्थानस्थपदता दोष हो गया है।

14. अस्थानस्थसमासता

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वांछति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः
प्रोद्यद् दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोशनिः सरदलिश्रेणीकृपाणं शशी।।

अर्थात् मेरा उदय हो जाने के बाद भी स्तनरूप पर्वतों के कारण दुर्गम, स्त्रियों के हृदय रूप सुरक्षित स्थान में छिपकर यह मान बैठना चाहता है, यह बड़ी बुरी बात है। इससे मानों क्रोध के कारण लाल–लाल चन्द्रमा दूर तक हाँथ रूपी किरणों को फैलाकर तुरन्त ही खिले हुए कैरवों के भीतर से निकलती हुई भ्रमरपंक्तिरूप कृपाण को कोश म्यान से खींच रहा है।

यहाँ क्रुद्ध चन्द्रमा की उक्ति में प्रथम दो चरणों में समास नहीं किया है और अन्तिम चरण कवि की उक्ति में किया है। अतः अस्थानस्थसमास का उदाहरण है।

15. सङ्कीर्णता

सङ्कीर्णम् यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनु– प्रविशन्ति।

जहाँ एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो जाते हैं वहीं संकीर्णतादोष होता है। यथा–

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणेमम्।
ननु मुंच हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरुपम्।।

अर्थात् किसी मानिनी स्त्री से उसकी सखी कह रही है कि पैरों पर पड़े हुए, अत्यन्त, गुणवान् अपने इस प्राणनाथ को तुम क्यों नहीं देखती हो, मन के तमोरूप मान को छोड़ो और इनको उठाओ।

यहाँ पैरों पर पड़े हुए अत्यन्त गुणवान् प्राणनाथ को क्यों नहीं देखती हो यह प्रथम वाक्य है। इनको गले लगाओ। यह दूसरा वाक्य है और मन के अन्धकाररूप मान का छोड़ो यह तीसरा वाक्य है। परन्तु उन तीनों के पदों को एक–दूसरे वाक्य के भीतर घुसेड़ देने से संकीर्णत्व दोष है। एक वाक्य होने पर क्लिष्टत्व दोष होता है। यह संकीर्णत्व तथा क्लिष्टत्व दोषों का भेद हैं।

इसमें 'पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि' यह पहला वाक्य है, किन्तु उसका 'हृदयनाथ' पद तीसरे वाक्य में चला गया है और तीसरे वाक्य का 'कोप' पद प्रथमवाक्य में आ गया है। इस प्रकार इमं कण्ठे गृहाण' यह दूसरा वाक्य है। इसका 'कण्ठे' पद तीसरे वाक्य में चला गया है। 'मनसस्तमोरूपं कोपं मुंच' यह तीसरा वाक्य है। प्रथम वाक्य का 'हृदयनाथं पद तथा द्वितीय वाक्य का 'कण्ठे' पद इसमें आ गये हैं।

16. गर्भितता

गर्भितं यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति।

गर्भितता दोष उसको कहते हैं जहाँ एक वाक्य के भीतर दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो जाता है। यथा–

परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन।।

अर्थात् मैं तुमसे तत्त्व की यथार्थ बात कहता हूँ कि दूसरे के अपकार करने में लगे हुए दुष्ट पुरुषों के साथ कभी संगति नहीं करनी चाहिये।

यहाँ तीसरा चरण जो कि अलग वाक्य है दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो गया है इसलिए यह गर्भितत्व दोष है।

17. प्रसिद्धिविरुद्धता

गर्भितत्व दोष का निरूपण करने के बाद 'प्रसिद्धिविरुद्धता' दोष का निरूपण करते है। कवियों के यहाँ कुछ विशेष शब्दों तथा अर्थों का विशेषरूप में ही वर्णन करने का नियम या परम्परा चली आ रही है। उसको 'कविसमय' या 'कविप्रसिद्धि' कहा जाता है। इस कविसमय का कविप्रसिद्धि का उल्लंघन होने पर 'प्रसिद्धिविरुद्धता' दोष होता है। उसको दिखलाने के लिए कविसमयगत कुछ शब्दों के विशेष प्रयोग का विधान पहले दिखलाकर फिर उनके अन्यथाप्रयोग के कारण प्रसिद्धि–विरुद्धतादोष का उदाहरण देंगे। यथा–

मंजीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्।।

अर्थात् मंजीर आदि के शब्द का कथन करने में रणित आदि जैसे शब्दों का, पक्षियों के शब्द में कूजित आदि सूरत में स्तनित, मणित आदि तथा मेघ आदि के शब्द में गर्जित आदि का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार की प्रसिद्धि का अतिक्रमण करने वाला प्रसिद्धिविरुद्धता दोष होता है। जैसे–

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक–
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः।।

अर्थात् महाप्रलय की वायु से क्षुभित चतुर्दश प्रकार के पुष्करावर्तक आदि नामों से प्रसिद्ध भयंकर मेघों के गर्जन की प्रतिध्वनि के सदृश सुनने में भयंकर लगने वाला आकाश और पृथिवी को भर देने वाला यह समरसागर से उत्पन्न अपूर्व शब्द सामने से क्या या कहां से आ रहा है।

यहाँ 'रव' शब्द मेढक आदि के शब्द में प्रसिद्ध है, न कि उक्त प्रकार के विशिष्ट सिंहनाद के अर्थ में। इसलिए यहाँ प्रसिद्धविरुद्धता दोष है।

18. भग्नप्रक्रमता

भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र तत्र भग्नप्रक्रमता। यथा–
नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तङ्गते हन्त निशाऽपि याता।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति।।

दैववश रात्रि के पति चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर रात्रि भी चली विनष्ट हो गयी, यह दुःख की बात है किन्तु कुलांगनाओं के लिए पति की मृत्युरूप इस दशा के योग्य इससे अधिक अच्छी और अच्छी कोई बात सम्भव नहीं है।

यहाँ 'गता' इस गम् धातु के प्रयोग के रूप में या धातु से बने 'याता' का प्रयोग प्रकृति मूलधातु की भग्नप्रक्रमतारूप दोष है। उसके स्थान पर 'गता निशाऽपि' यह कहना उचित है।

19. अक्रमता

अविद्यमानः क्रमो यत्र तत्र अक्रमता।

अर्थात् जहाँ क्रम विद्यमान न हो उसको अक्रमता दोष कहा जाता है। यथा–

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।

अर्थात् महादेव को प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाली दोनों ही अत्यन्त शोचनीय दशा में पहुँच गई हैं। उनमें से एक तो उनके मस्तक पर स्थित 'चन्द्रकला' है दूसरा संसार के नेत्रों को तृप्त करने वाली कौमुदी के समान 'पार्वती' हैं।

यहाँ कला च की तरह त्वम् के बाद च का प्रयोग उचित होता। क्योंकि दो अन्योन्याश्रित उपवाक्य में समानता होनी चाहिए।

यथा वा–

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ! दोषाकरश्री
र्वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः।
आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति च पुरः किं मया वृद्धया ते
प्रोच्येवेत्थं प्रकोपाच्छशिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम्।।

हे नाथ! आपकी बाहुओं में तलवार से उत्पन्न हुई शक्ति पक्षान्तर में निस्त्रिंश–तीस से भी अधिक आदमियों से सम्बन्ध रखने वाली व्यभिचारिणी स्त्री में उत्पन्न यह शक्ति नामक वेश्यापुत्री तुम्हारी बाहुओं में जकड़ी हुई तुम्हारा आलिंगन कर रही है, दोषों की खान यह लक्ष्मी आपके मुख में चुम्बन प्राप्त कर रही है। पक्षान्तर में दोषाकार चन्द्रमा का सौन्दर्य आपके मुखमण्डल पर विराज रहा है और यह महाकुट्टिनी अत्यन्त दुश्चरित्रा, पक्षान्तर में आघात पहुँचाने वाली खड्गयष्टि आपके पास में रहती है। आपकी यह आज्ञा नामक प्रेमिका सबके पास पहुँचने वाली व्यभिचारिणी होने पर भी तुम्हारे सामने विलास करती है। ऐसी दशा में इस बूढ़ी पक्षान्तर में वृद्धि को प्राप्त, दूर–दूर तक फैली हुई मुझ कीर्ति से आपको क्या प्रयोजन है। मानों यह कहकर चन्द्रकिरणों के समान उज्जवल जिस राजा की कीर्ति ने क्रोध से प्रस्थान किया। पक्षान्तर में सब जगह फैल गयी। इसमें 'प्रोच्येवेत्यं' के स्थान पर 'इत्थं प्रोच्येव' यह पाठ होना उचित है।

20. अमतरार्थता

अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र।

जहाँ दूसरा अर्थ अमत अर्थात् प्रकृत अर्थ के विपरीत हो उसको अमतपरार्थता दोष कहते है। यथा–

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा।।

अर्थात् वह ताडका नामक राक्षसी कामदेव के सदृश सुन्दर रामचन्द्र दूसरे पक्ष में रामरूप कामदेव के बाण से हृदयस्थल में आहत होकर दुर्गन्धयुक्त दूसरे पक्ष में सुगन्धयुक्त लालचन्दन रक्तरूप चन्दन से लिप्त होकर यमपुरी जीवितेशयम। दूसरे पक्ष में अभिसारिका के रूप में प्राणनाथ की पुरी को चली गयी।

यहाँ प्रकृत बीभत्स रस में विपरीत श्रृंगाररस का व्यंजक दूसरा अभिसारिकापरक अर्थ है अतः अमतपरार्थता दोष है।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने 20 प्रकार के वाक्य–दोषों की चर्चा की।

4.3 रस–दोष

अब तक जिन दोषों पर चर्चा हुई है, वे भी किसी न किसी प्रकार रस की प्रतीति में परोक्ष रूप से व्यवधान उत्पन्न करते हैं। पर जो दोष प्रत्यक्ष रूप से रस की प्रतीति में बाधक होते हैं, उन्हें रसदोष माना गया है। काव्यप्रकाश में निम्नलिखित 13 दोषों का उल्लेख किया गया है–

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः।।
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः।।

1. व्यभिचारिभावस्वशब्दवाच्यता, 2. रसस्वशब्दवाच्यता, 3. स्थायिभावस्वशब्दवाच्यता, 4. अनुभाव की कठिनाई से प्रतीति, 5. विभाव की कठिनाई से प्रतीत, 6. प्रतिकल विभाव आदि का ग्रहण, 7. रस की बार–बार दीप्ति, 8. अनवसर में रस का विस्तार, 9. अनवसर में रस का विच्छेद, 10.अप्रधान रस का अत्यधिक विस्तार, 11. अङ्गी (प्रधान) रस का अननुसन्धान (त्याग), 12. प्रकृतियों का विपर्यय अर्थात् पात्रों के स्वभाव का विपर्यय, 13. अनङ्ग का कथन अर्थात् प्रधान रस के अपुष्टकारक तथ्यों का कथन।

1. व्यभिचारिभावस्वशब्दवाच्यता

जहाँ काव्य में व्यभिचारिभावों को नाम से, अर्थात् उनके वाचक शब्द के द्वारा अभिहित किया गया हो, वहाँ व्यभिचारिभाव– स्वशब्दवाच्यता रसदोष होता है। जैसे–

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे

पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः।।

अर्थात् नवसंगम के लिए उत्सुक माँ पार्वती की दृष्टि तुम लोगों के लिए कल्याणकारिणी हो, जो अपने पति (भगवान शिव) के मुख को देखकर लज्जायुक्त, हाथी के चर्म का वस्त्र देखकर करुणायुक्त, आभूषण सर्पों को देखकर त्रासयुक्त, अमृत को प्रवाहित करने वाले चन्द्रमा को देखकर विस्मय से युक्त सिर पर गंगा को देखकर ईर्ष्या–भाव से युक्त और उनके द्वारा धारण किए कपाल को देखकर दीनतायुक्त को गयी है।

इस श्लोक में व्रीडा, त्रास, ईर्ष्या, दीनता आदि व्यभिचारी भावों के नाम हैं। इनके नाम में इन्हें अभिहित करने के कारण यहाँ व्यभिचारिभावस्वशब्दवाच्यता रसदोष है।

2. रसस्वशब्दवाच्यता

इसी प्रकार जहाँ काव्य में रस की अभिव्यक्ति रस शब्द से या किसी अन्य रस के नाम से की गयी हो, वहाँ रसस्वशब्दवाच्यता दोष होता है। जैसे–

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरम्।।

अर्थात् कामदेव की विजय की मंगल–लक्ष्मी और थोड़ी ऊपर को उठी हुई बाहों वाली नायिका को देखकर नायक के अन्दर किसी अनिर्वचनीय और अविच्छिन्न रस का उदय हुआ।

यहाँ रस शब्द का प्रयोग होने से कारण रसस्वशब्दवाच्यता दोष है।

निम्नलिखित उदाहरण में श्रृंगार रस विशेष कहकर वर्णन करने के कारण रसस्वशब्दवाच्यता दोष है–

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्तव्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम्।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः श्रृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति।।

अर्थात् कोमल कपोलों पर व्यक्त अनुराग के कारण सुन्दर और मोहक रूपवाली नायिका को देखकर बाल्यावस्था का अतिक्रमण करके नवयौवन में प्रवेश करने वाला यहाँ नायक श्रृंगार की सीमा में तरंगित हो रहा है। यहाँ श्रृंगार रस की अभिव्यंजना न होकर उसका नाम से उल्लेख हुआ है। अतएव इस श्लोक में भी रसस्वशब्दवाच्यता दोष है।

3. स्थायिभावस्वशब्दवाच्यता

और जहाँ काव्य में स्थायिभावों को उनके नाम से अभिव्यक्त किया गया हो, वहाँ स्थायिभावस्वशब्दवाच्यता रसदोष होता है। जैसे–

सम्प्रकारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम्।
ठणत्कारैः श्रुतुगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्।।

अर्थात् युद्ध में शस्त्रों के आपस में टकराने से उत्पन्न ध्वनि को सुनकर उसमें (वीर में) अनिर्वचनीय उत्साह उत्पन्न हुआ।

यहाँ वीर रस का स्थायीभाव उत्साह का स्वशब्द के कथन होने के कारण स्थायीभावस्वशब्दवाच्यता रसदोष है।

रस को परिभाषित करते हुए आचार्य भरत कहते हैं– विभावानुभावव्यभिचारिभावसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः, अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव (संचारिभाव) के संयोग से रस निष्पन्न होता है, उत्पन्न होता है या ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव (संचारिभाव) रस की अनुभूति के कारण होते हैं। विभाव रस के बाह्य कारक होते हैं और ये दो तरह के होते हैं–आलम्बन और उद्दीपन। श्रृंगार रस में नायक या नायिका या दोनों आलम्बन होते हैं और चाँदनी, नदी, बाग आदि उद्दीपन होते हैं। स्थायीभाव रस की अनुभूति के आंतरिक कारक हैं। प्रत्येक रस का अपना अलग स्थायिभाव होता है, जैसे–रति (श्रृंगार रस), हास (हास्य रस), शोक (करुण रस) आदि। रस की अनुभूति के समय शारीरिक और मानसिक व्यापार अनुभाव कहलाते हैं–जैसे रौद्र रस में नथुनों का फूलना आँखें लाल–लाल होना आदि। प्रत्येक रस के अनुभाव भी विभाव की भाँति अलग–अलग होते हैं। अनुभाव की तरह व्यभिचारिभाव भी आंतरिक रस की अनुभूति से उत्पन्न शारीरिक और मानसिक व्यापार या अभिव्यक्ति है। आचार्य भरत लिखते हैं कि जो रसों में सक्रिय होते हैं और उन्हें (रसों को) पुष्टकर आस्वादन के योग्य बनाते हैं, वे व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। इनकी कुल संख्या 33 है, जैसे–निर्वेद, ग्लानि, ईर्ष्या, आलस्य आदि। ये रसों के अनुसार अलग–अलग नहीं होते। रस के निष्पन्न होने में इनकी अनुभूति होने में इन कारकों के विभिन्न व्यतिक्रमों से व्यवधान उत्पन्न होने पर ही रसदोषों का जन्म होता है।

अब अपने मूल विषय पर वापस लौटते हैं और अनुभाव की कठिनाई से प्रतीति, विभाव की कठिनाई से प्रतीति और प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण रसदोषों पर चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

4. अनुभाव की कठिनाई से प्रतीति

जहाँ काव्य में अनुभावों की प्रतीति होने में कठिनाई हो, वहाँ भी रसदोष होता है। जैसे–

कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौतदिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः।

लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्तिव्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा।।

अर्थात् चन्द्रमा के उदय होने से कर्पूर के चूर्ण के समान श्वेत चाँदनी से दिङ्मंडल प्रकाशित हो रहा है। ऐसे में सिर पर इस प्रकार घूँघट डाले कि उसके स्तन का उभार स्पष्ट हो। इस प्रकार वह उस नवयुवक की दृष्टि की परिधि में आ गयी।

यहाँ श्रृंगार रस के आलम्बन विभाव के रूप में नायिका और उद्दीपन विभाव के रूप में चन्द्रमा का वर्णन तो है, लेकिन इन विभवों के परिणाम स्वरूप नायक में उत्पन्न होने वाले अनुभावों–स्वेद, रोमांच आदि के वर्णन का अभाव होने के कारण इनकी (अनुभावों की) प्रतीति होने में कठिनाई है। जिससे श्रृंगार रस के निष्पन्न होने में या तो व्यवधान उत्पन्न होता है, या ते बिलम्ब होता है। इसलिए यहाँ अनुभव की कष्ट से प्रतीतिजनित रसदोष है।

5. विभाव के कठिनाई से प्रतीति

जहाँ काव्य में विभावों की प्रतीति में कठिनाई हो, वहाँ भी रसदोष होता है। जैसे–

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः।।

अर्थात् वह बेचैन रहता है, उसका विवेक नष्ट हो गया है, लड़खड़ाता है, लोटने–पोटने लगता है। इस प्रकार उसका शरीर अत्यन्त भयावह दशा को प्राप्त हो गया है। समझ में नहीं आता कि ऐसी स्थिति में क्या किया जाय।

यहाँ बेचैनी, लड़खड़ाना आदि केवल अनुभावों का वर्णन किया गया है और ये अनुभाव विप्रलम्भ श्रृंगार और करुण रस दोनों में ही पाए जाते हैं। आलम्बन विभाव के रूप में प्रियतमा का कथन न होने के कारण इस विभाव का अनुमान बड़ी कठिनाई से हो पाता है। इसके अतिरिक्त यह भी संदेह होता है कि उस व्यक्ति की वर्णित दशा किसी बीमारी विशेष के कारण तो नहीं है। अतएव यहाँ विभाव–कष्टकल्पना रसदोष है।

6. प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण

जब काव्य में इस प्रकार के विभावों का वर्णन हो, जिससे अपेक्षित रस के प्रतिकूल विभाव का ग्रहण होता है, वहाँ मानने के लिए उसके प्रतिनायक की यह उक्ति है–

प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः।
निधान सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः।।

अर्थात्, हे प्रिये, मान जाओ, थोड़ा मुस्करा दो, गुस्सा छोड़ दो, तुम्हारी नाराजगी से मेरे सूखते जा रहे अंगों को अपनी वाणी रूपी अमृत से सींच दो, मेरे सभी सुखों के आधार अपने सुन्दर मुख को मेरे सामने करो। क्योंकि हे मुग्धे, गया हुआ यह काल रूपी हिरण पुनः लौटकर नहीं आता।

इस श्लोक में कालरूपी हिरण पुनः वापस नहीं आएगा। (बीता हुआ समय लौटकर नहीं आता) कथन से यौवन की अनित्यता रूपी विभाव शान्त रस को निष्पन्न करने वाले निर्वेद व्यभिचारिभाव को प्रकाशित करता है। जो श्रृंगार रस के प्रतिकूल है, जबकि यहाँ कवि का अभीष्ट श्रृंगार का वर्णन है। इसलिए यहाँ प्रतिकूल–विभाव–ग्रहण रसदोष है।

7. रस की पुनः पुनः दीप्ति

जहाँ एक ही रस का बार–बार उद्दीपन हो वहाँ पुनर्दीप्ति रसदोष कहलाता है। जैसे महाकवि कालिदास कृत कुमारसंभव के चतुर्थ सर्ग में कामदेव को भगवान शिव द्वारा भस्म कर दिए जाने के बाद रति–विलाप का वर्णन। इसमें करुण रस को प्रारम्भ करने के लिए अथ शब्द का प्रयोग किया गया है और पुनः शब्द से उस रस का फिर से उद्दीपन किया गया है।

8. अनवसर में रस का विस्तार

अकांड–प्रथन का अर्थ है असमय में किसी रस को विस्तार देना, अर्थात् जहाँ बिना अवसर के किसी रस का वर्णन किया जाय, वहाँ अकांड–प्रथम रसदोष होता है। जैसे वेणीसंहार नाटक के द्वितीय अंक में महाभारत के युद्ध में भीष्म आदि अनेक वीरों की मृत्यु हो जाने के बाद दुर्योधन के संयोग श्रृंगार का वर्णन।

9. अनवसर में रस का विच्छेद

अकांड–छेदन का अर्थ है असमय में रस का भंग होना, अर्थात् किसी काव्य में किसी रस का वर्णन करते समय असमय में ही उसे भंग कर दिया जाए, छोड़ दिया जाए वहाँ अकांड–छेदन रसदोष होता है या ऐसे वर्णन को अकांड–छेदन रसदोष कहते हैं। जैसे महावीरचरित के द्वितीय अंक में भगवान राम और परशुराम के संवाद में वीररस के चरम उत्कर्ष के समय कंगन खोलने जा रहा हूँ राम की यह उक्ति रसानुभूति में बाधा उत्पन्न करती है।

10. अप्रधान रस का अत्यधिक विस्तार

जहाँ काव्य में अंग का अर्थात् अप्रधान का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया जाय, वहाँ अंगविस्तार रसदोष माना जाता है। जैसे हयग्रीववध नाटक में भगवान विष्णु प्रधान नायक हैं, किन्तु उसमें हयग्रीव के कार्यकलापों का नायक की अपेक्षा अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। वैसे कहा गया है कि वशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि अर्थात् शत्रु के वंश, वीर्य, श्रुत (प्रसिद्धि) आदि का वर्णन से भी नायक के प्रताप का अतिशय दिखाया जा सकता है। लेकिन हयग्रीववध नाटक में हयग्रीव के जल–विहार, वन–विहार आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है और यह किसी भी प्रकार नायक (विष्णु) के शौर्य की वृद्धि में सहायक नहीं है। अतः इसमें अंगविस्तार रसदोष माना गया है।

11. अङ्गी (प्रधान) रस का अननुसन्धान

जब काव्य में रस के अंगी (प्रधान नायक या नायिका) को विस्मरण हो जाय, उसे अंगी–अननुसंधान रसदोष कहते हैं। जैसे रत्नावली नाटक के चतुर्थ अंक में वाभव्य के आ जाने पर विजयवर्मा के वर्णन को सुनने में लीन नायक उदयन कथानक की मुख्य नायिका रत्नावली (सागर में डूबने के कारण सागरिका नाम से जानी जाने वाली) को भुल गया है। अतएव इस प्रसंग में अंगी–अननुसंधान रसदोष है।

12. प्रकृतियों का विपर्यय अर्थात् पात्रों के स्वभाव का विपर्यय

प्रकृति विपर्यय रसदोष समझने के लिए नायकों की प्रकृति समझना आवश्यक है। नायको को प्रथम तीन प्रकार का बताया गया है–दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। इन्द्र आदि देवताओं को दिव्य, मनुष्य का नायक के रूप में वर्णन अदिव्य और भगवान के अवतारों–राम, कृष्ण आदि को दिव्यादिव्य नायक माना गया है। पुनः इनको धीरोदाल (वीररस प्रधान), धीरोद्धत (रौद्ररस), धीरललित (श्रृंगार रस) और धीरप्रशान्त (शान्तरस) चार प्रकार का बताया गया है। इस प्रकार ये बारह प्रकार के होते है और ये बारह पुनः तीन भागों में विभक्त किए गए हैं–उत्तम, मध्यम और अधम। अतएव कुल मिलाकर 36 प्रकार के नायक बताए गए हैं। इन सभी नायकों में स्थित रति, हास, शोक, अद्‌भुत आदि स्थायिभावों के वर्णन का प्रावधान

तो है, किन्तु दिव्य और दिव्यादिव्य नायकों का संभोगश्रृंगार का वर्णन माता–पिता के संभोगश्रृंगार के वर्णन समान अनुचित है। अतएव यदि इस प्रकार का वर्णन काव्य में पाया जाता है, तो वहाँ प्रकृति–विपर्यय रसदोष होता है। जैसे– कुमारसम्भव में भगवान शिव व माँ पार्वती के श्रृंगार का वर्णन होने के कारण प्रकृति–विपर्यय रसदोष है।

13. अनङ्ग का कथन अर्थात् रस के अपुष्टकारक तथ्यों का कथन

जब काव्य में रस के लिए आवश्यक या उपयोगी वर्णन को स्थान न देकर अनुपयोगी वर्णन किया गया हो, तो वहाँ अनंग का वर्णन रसदोष माना जाता है। जैसे कर्पूरमंजरी नाटिका में प्रथम यवनिका के बाद नायिका द्वारा विहित वसन्त–वर्णन को महत्व न देकर बन्दियों द्वारा किए गए वसन्त वर्णन की राजा द्वारा प्रशंसा की गयी है। अतएव इस कारण इस प्रसंग में अनंग–वर्णन रसदोष है।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने कुल 13 रसदोषों की चर्चा काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में की है।

4.4 काव्य–गुण निरूपण

पिछले पाठ में काव्य के रसदोषों का समापन हो गया था। इस पाठ में काव्य के गुणों पर चर्चा प्रारम्भ कर रहे हैं। कुछ आचार्य गुण और अलंकारों की सत्ता अलग–अलग न मानकर एक ही मानते हैं, जबकि अधिकांश आचार्य इन दोनों की अलग–अलग सत्ता मानते हैं।

आचार्य भामह के काव्यालंकार पर लिखी अपनी टीका भामहविवरण में आचार्य भट्टोद्भट काव्य के गुण और अलंकार में भेद नहीं मानते बल्कि इनमें भेद करने वाले आचार्यों के मत को गड्डलिकाप्रवाह अर्थात् भेड़ चाल कहा है। इनका मानन है कि लौकिक गुणों, शौर्य आदि और कटक आदि अलंकारों (आभूषणों) में भेद तो माना जा सकता हैं, पर काव्य में ओज आदि गुणों तथा उपमा आदि अलंकारों में नहीं। इनके मतानुसार मनुष्यों में शौर्य आदि गुणों का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध होता है, जबकि काव्य में शौर्य आदि गुणों का संयोग सम्बन्ध **समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः गुणालंकाराणां भेदः ओज–प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः।**

किन्तु काव्यालंकारसूत्र के प्रणेता आचार्य वामन गुण और अलंकार में भेद मानते हैं। इनके मतानुसार शब्द और अर्थ के प्रसाद, ओज, आदि धर्म जो काव्य की शोभा बढ़ाते हैं, वे काव्य के गुण हैं और काव्य के गुणों में वृद्धि या उत्कर्ष के कारक या धर्म अलंकार होते हैं–

ये खलु शब्दार्थयो धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः।
ते च ओजप्रसादादयः न यमकोपमादयः।।

जिस प्रकार किसी युवक या युवती के सौन्दर्य में अलंकार (आभूषण) वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार काव्य में ओज, प्रसाद आदि गुणों में शब्दालंकार और अर्थालंकार वृद्धि करते है। अतएव रस काव्य की आत्मा, ओज आदि गुण और अलंकार गुण की वृद्धि के कारक माने जाते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन का भी यही मत है। वे ध्वन्यालोक में लिखते हैं कि रसादिरूपी ध्वनि काव्य की आत्मा है, उस पर आश्रित रहने वाले धर्म गुण और अलंकार कटक आदि आभूषणों की तरह काव्य के अंग शब्द और अर्थ के धर्म होते हैं–

तमर्थवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।।

इसी प्रकार आचार्य मम्मट भी काव्य में गुण और अलंकार अलग–अलग स्थिति मानते हैं। उनके शब्दों में आत्मा के शौर्य आदि धर्मों की तरह रस के अचल रूप से स्थित काव्य के उत्कर्ष के कारक धर्म गुण कहलाते हैं और काव्य में विद्यमान अंगी रस का शब्द तथा अर्थ में उत्कर्ष बढ़ाने वाले अनुप्रास, उपमा आदि हार आदि की भाँति अलंकार कहलाते हैं–

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।
उपकुर्वन्ति तं सन्त येंऽगद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ भी काव्य में प्रधानभूत रस के माधुर्य, ओज और प्रसाद धर्मों को गुण मानते हैं–

रसस्याङ्गित्वमानस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा।।

आचार्यों के द्वारा दिए उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता हैं कि काव्य में गुण और अलंकारों का अस्तित्व अलग–अलग होता हैं। संक्षेप में कहा जाय, तो इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर होते हैं–

1. गुण काव्य के अभ्यन्तर धर्म होते हैं, जबकि अलंकार बाह्य धर्म।
2. रस के अभाव में गुण का अस्तित्व नहीं हो सकता, जबकि अलंकार रस के अभाव में भी काव्य में हो सकते हैं।
3. गुण काव्य के सीधे धर्म होते हैं, जबकि अलंकार पोषक होते हैं।

काव्य के गुण–भेदों में भी आचार्यों में वैमत्य है। आचार्य वामन अपने काव्यालंकारसूत्र में काव्य के दस शब्दगुण और दस अर्थगुण मानते हैं–ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य (सुकुमारता), उदारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति। शब्दगुणों और अर्थगुणों के नाम तो एक ही है परन्तु, परिभाषाएँ अलग–अलग हैं।

आचार्य मम्मट ने वामनोक्त दशों गुणों को माधुर्य ओज और प्रसाद इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भूत किया है।

4.4.1 माधुर्य गुण

माधुर्य गुण के विषय में आचार्य मम्मट का कथन है–

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा मार्धुये घटना तथा।।

1. **वर्णों का प्रयोग**–(क) मूर्धन्य वर्ण ट, ठ, ड और ढ को छोड़कर शेष सभी वर्णों से युक्त शब्दों का प्रयोग, वर्णों का अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से संयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग, जैसे संग (ग का अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण ङ के साथ संयुक्त है), कंचन (यहाँ च अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण ञ से संयुक्त हैद्ध, पन्थ आदि शब्द। इसके अतिरिक्त लघु र और ण तथा रेफ युक्त शब्द भी माधुर्य के व्यंजक हैं।

2. समास रहित या अल्प समास युक्त पदों का प्रयोग।

3. पदों एवं समासों के साथ योग (सन्धि)।

माधुर्य गुण से युक्त निम्नलिखित श्लोक उदाहरण के लिए आचार्य मम्मट ने उद्धृत किया है–

> **अनङ्गरंगप्रतिमं तदंगं भंगीभिरंगीकृतमानताङ्ग्याः।**
> **कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि।।**

अर्थात् कामदेव की रंगशाला की तरह स्तनों के भार से नतांगी (झुके हुए शरीर वाली) की चेष्टाओं ने उसके (नायिका के) शरीर को अपने अधीन कर लिया है कि ये चेष्टाएँ (हाव–भाव) युवकों के चित्त को सद्यः अन्य विषयों की चिन्ता से मुक्त कर अपने में रमा लेती हैं।

इस श्लोक में उक्त तीनों विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

4.4.2 ओजगुण

आचार्य मम्मट ने बड़े ही संक्षेप में ओज की विशेषता बताई है–

> **योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।**
> **आदिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि।।**

1. वर्णमाला के प्रत्येक वर्ग (क वर्ग, च वर्ग आदि) के प्रथम और तृतीय वर्णों के साथ उनके बाद के वर्णों का बिना व्यवधान के प्रयोग, अर्थात् प्रथम वर्ण क, च, त और प के बाद ख, छ, थ तथा फ एवं ग, ज, द और ब के बाद घ, झ, ध तथा भ वर्णयुक्त शब्दों का प्रयोग।

2. वर्णों और र का संयुक्त रूप वाले पदों (शब्दों) का प्रयोग, जैसे–कर्त्ता, क्रम, वज्र, धर्म आदि।

3. तुल्य वर्णों से संयुक्त शब्दों का प्रयोग, यथा उच्च, उद्दाम, वित्त आदि (हिन्दी के सन्दर्भ में–पत्ता, कच्चा, चक्का आदि)।

4. ट वर्ग (ट, ठ, ड, ढ) युक्त शब्दों का प्रयोग।

5. श और ष वर्णो से युक्त शब्दों का प्रयोग।

6. लम्बे समास वाले पदों का प्रयोग और

7. उद्धृत (गुम्फित) रचना ओज गुण को व्यंजित करती है।

इसके लिए आचार्य मम्मट ने हनुमन्नाटकम् का बड़ा ही सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है। भगवान राम की सेना के द्वारा पूरी लंका घिर जाने के बाद अपने नगर की रक्षा का सुझाव देने पर यह श्लोक रावण की उक्ति है–

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा–
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोधुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः।

अर्थात् उद्धृत होकर लगातार कंठ से बहती अविरल रक्त की धारा से भगवान शिव के चरणों के धोने से उनकी कृपा से प्राप्त विजय से जगत् में मिथ्या महत्ता को प्राप्त मेरे इन दस शिरों और कैलास को उठाने की इच्छा से आविष्ट उत्कट अभियान के गर्व से युक्त मेरी भुजाओं का क्या यही फल है कि अपनी इस नगरी की रक्षा के लिए मुझे प्रयास करने की आवश्यकता आ पड़ी।

4.4.3 प्रसाद गुण

प्रायः अधिकांश काव्यों में इसकी उपस्थिति देखने को मिलती है। इसे परिभाषित करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है कि काव्य को सुनते ही उसका अर्थ समझ में आ जाय, उसे प्रसाद गुण कहते हैं–

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।।

इस गुण का विस्तार सभी रसों में देखने को मिलता है और इसकी उपस्थिति अन्य दो गुणों के साथ भी प्रायः होती है। उदाहरण–

परिम्लानं पीनस्तनजघनसंगादुभयत
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशांगयाः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्।।

यह उदाहरण हर्षदेवकृत 'रत्नावली नाटिका के द्वितीय अंक से लिया गया है। वत्सराज उदयन सागरिका को उद्देश्य कर के अर्थात् सागरिका के विषय में कह रहे हैं कि कमल पत्रों की शय्या उस कृशांगी सागरिका के सन्ताप को स्पष्टरूप से अभिव्यक्त कर रही है।

ऊँचे स्तनों और नितम्बों के सम्पर्क से दोनों ओर दोनों स्थानों पर मुरझायें हुए और शरीर के मध्यभाग अर्थात् कमर के कृश होने से उस के मिलन को प्राप्त न होने के कारण बीच में हरी और शिथिल भुजाओं के इधर–उधर पटकने तथा करवटें बदलने से जिसकी बनावट बिगड़ गई है इस प्रकार की कमलिनी के पत्तों की यह शय्या कृशांगी के विरहजन्य सन्ताप को बतला रही है।

इसके अलावा प्रसाद गुण को समझने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया जा रहा है–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

यह श्लोक इतना प्रचलित है कि सभी इसका अर्थ जानते हैं। इसलिए यहाँ इसका अर्थ नहीं दिया जा रहा है। इस प्रकार गुण–लक्षण सहित त्रिविध गुणों का सभेद निरूपण आचार्य ने काव्य प्रकाश के अष्टम उल्लास में किया है।

4.5 सारांश

रस के अपकर्षजनक कारण को दोष कहते हैं। परन्तु उसका रस का आश्रय होने से वाच्य अर्थ भी मुख्य अर्थ कहलाता है। इसलिए रस के साथ चमत्कारी वाच्य का अपकर्षकारक भी दोष कहलाता है। शब्दादि रस तथा वाच्यार्थ इन दोनों के बोधन में उपकारक होते हैं, इसलिए उनमें भी वह दोष रहता है। प्रतिकूलवर्णता, उपहतविसर्गता, विसन्धि, हतवृत्तता, न्यूनपदता, अधिकपदता, कथितपदता, पतत्प्रकर्षता, समाप्तपुनरात्तता, अर्थान्तरैकवाचकता, अभवन्मतसमबन्ध, अनभिहितवाच्यता, अस्थानपदता, अस्थानसमासता संकीर्णता, गर्भितता, प्रसिद्धिविरोध, भग्नप्रक्रमता, अक्रमता, अमतपरार्थता ये 20 प्रकार के वाक्यदोषों की चर्चा की गई। जब काव्य में व्यभिचारभाव, स्थायिभाव, रसादि शब्दों का शब्दतः वर्णन किया जाता है तो रस–दोष की स्थिति उत्पन्न होती है, इसी तरह अनुभाव व विभाव की कठिनता से प्रतीति होना, रस के प्रतिकूलत विभावादि का ग्रहण आदि के कारण भी काव्य में रस–दोष देखा जाता है। काव्य में गुण की अवस्थिति आत्मारूप रस में बताई गई है, जैसे मानव की शूरता–वीरता आदि गुण उसकी आत्मा में रहते हैं न कि शरीर में उसी प्रकार माधुर्यादि गुण भी काव्य में रस के अंग होते हैं न कि शब्दार्थशरीर के। यद्यपि गौणरूप से इन काव्यगुणों का व्यवहार शब्दार्थ से किया जाता है तथापि इनकी भूमिका रसोत्कर्ष में अधिक होती है, अतः वहाँ इन गुणों की स्थिति अचल होती है।

4.6 शब्दावली

1. हति = अपकर्ष
2. धीदोर्बले = बुद्धिबल तथा बाहुबल
3. सूकर = सूअर
4. सीमन्तिनी = स्त्री, नारी
5. अलिश्रेणी = भ्रमरों की पंक्ति
6. रोदसी = पृथ्वी–आकाश
7. मन्मथ = कामदेव, स्मर, अनंग
8. सव्रीडा = लज्जायुक्त
9. शिरोंऽशुक = घूँघट
10. जातुचित् = कदाचित्
11. परिम्लानं = मुरझाए हुए

4.7 बोध प्रश्न

1. वाक्य–दोषों के सभी प्रकारों का संक्षिप्त देते हुए 5 दोषों की सोदाहरण व्याख्या करें।
2. रस–दोष के कितने भेद हैं, सभी भेदों की संक्षिप्त चर्चा करें।
3. ये रसस्यांगिनो धर्माः शौयादय इवात्मनः।

   उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।

   इस कारिका की व्याख्या करें।
4. त्रिविध गुणों के लक्षण एवं उदाहरण सहित व्याख्या करें।

4.8 उपयोगी पुस्तकें

1. बालरामायण – राजशेखरसूरि
2. नाट्यशास्त्र – भरतमुनि
3. काव्यालंकार – भामह
4. भामहविवरण – भट्टोदभट
5. काव्यालंकारसूत्र – वामन
6. हनुमन्नाटक – दामोदर
7. रत्नावलि नाटिका – हर्षवर्धन

इकाई 5 अलंकार का स्वरूप और भेद, शब्दालंकार– वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरूक्तवदाभास

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप :

- अलंकार के स्वरूप को पहचान सकेंगे।
- शब्दालंकार को परिभाषित कर सकेंगे।
- वक्रोक्ति अलंकार को समझाने में सक्षम हो सकेंगे।
- अनुप्रास व यमक की व्याख्या कर सकेंगे।
- पुनरुक्तवदाभास अलंकार को समझ सकेंगे।
- श्लेष के भेद–प्रभेदों को जान सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

काव्य में विद्यमान अंगी रस का शब्द तथा अर्थ द्वारा आभूषणों की भांति उत्कर्ष बढ़ाने वाले अनुप्रास उपमा आदि अलंकार कहलाते हैं। शब्द–विशेष के कारण जिन अलंकारों का अस्तित्त्व होता है, वे शब्दालंकार कहलाते हैं अर्थात् शब्द–विशेष के स्थान पर दूसरा समानार्थी शब्द रखने पर अलंकार का अस्तित्त्व समाप्त हो जाए तो समझना चाहिए कि वह शब्दालंकार है। वक्ता द्वारा अन्य प्रकार से कहे हुए वाक्य का श्लेष या काकु के द्वारा श्रोता, वक्ता के अभिप्राय से भिन्न समझे तो उसे वक्रोक्ति अलंकार कहते हैं। वर्णों की समानता को अनुप्रास कहा जाता है। भले ही व्यंजनों के साथ

संयुक्त स्वरों में समानता न हो, लेकिन व्यंजनों में समानता होनी चाहिए, ऐसा होने पर अनुप्रास अलंकार होगा। यमक में भी वर्णों की आवृत्ति होती है, वे आवृत्त वर्ण यदि सार्थक हों तो उनके अर्थ का भेद होना आवश्यक है। अर्थभेद के कारण भिन्न–भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए एकरूप प्रतीत होते है, वह श्लेष अलंकार है। इनके सभी भेदों की चर्चा इस इकाई में होगी। पुनरुक्तवदाभास अलंकार का लक्षण एवं उदाहरण भी इस इकाई में प्रस्तुत किया गया है।

5.2 अलंकार का स्वरूप एवं भेद

पिछली इकाई में काव्य–गुणों पर चर्चा की गई थी, इस इकाई में अलंकारों पर चर्चा प्रारम्भ की जा रही है। गुणों की चर्चा के साथ काव्य में अलंकार की स्थिति पर भी चर्चा की गयी थी। काव्य में रस को काव्य की आत्मा, रस के धर्म को गुण और अलंकार आभूषणों की तरह रस और गुण की शोभा बढ़ाकर उनमें उत्कर्ष लाने वाले तत्त्व हैं।

आचार्य मम्मट अलंकारों का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि काव्य में विद्यमान अंगी रस का शब्द तथा अर्थ से उसका कभी–कभी हार आदि आभूषणों की भांति उत्कर्ष बढ़ाने वाले अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार कहलाते हैं–

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।

आचार्य मम्मट ने अलंकारों के सर्वप्रथम तीन भेद किए हैं– शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार (शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों के गुण से युक्त)। शब्द–विशेष की उपस्थिति के कारण जिन अलंकारों का अस्तित्त्व होता है, वे शब्दालंकार कहलाते हैं अर्थात् शब्द–विशेष के स्थान पर दूसरा समानार्थी शब्द रखने पर अलंकार का अस्तित्त्व समाप्त हो जाए तो समझाना चाहिए कि वह शब्दालंकार है। ये शब्द परिवृत्यसह अर्थात् समानार्थी शब्द–परिवर्तन के प्रति सहिष्णु नहीं होते हैं। और अर्थालंकार शब्दपरिवृत्ति सह अर्थात् समानार्थी शब्दों के परिवर्तन के प्रति सहिष्णु होते हैं अर्थात् अर्थालंकारों का अस्तित्त्व अर्थगत होता है। समानार्थी शब्दों के प्रयोग के बाद भी उनकी स्थिति यथावत् बनी रहती है।

पिछले पाठ में अलंकारों पर चर्चा करते हुए अलंकार के भेदों का उल्लेख किया गया था। आइए आज इस पाठ में हम शब्दालंकार के कुछ भेदों पर चर्चा करते हैं। शब्दालंकारों के भेद पर भी आचार्यों में मतभेद है। भोजराजदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सरस्वतीकण्ठाभरणम् में 24 शब्दालंकारों की सूची दी है। लेकिन अधिकांश आचार्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि वे सभी समानार्थी शब्दों के परिवर्तन के प्रति असहिष्णु नहीं हैं। समानार्थी शब्दों के परिवर्तन के प्रति असहिष्णुता और सहिष्णुता ही क्रमशः शब्दालंकार और अर्थालंकार की रेखाएँ हैं। अतएव छः शब्दालंकार माने गए हैं–वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरूक्तवदाभास। आचार्य सोमेश्वर ने काव्यप्रकाश पर की गई टीका में इन्हें निम्नलिखित श्लोक में सूचीबद्ध किया है–

वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं ष्लेषचित्रके।
पुनरुक्तवदाभासः षब्दालंकृतयस्तु शट्।।

5.3 वक्रोक्ति

वक्रोक्ति को परिभाषित करते हुए आचार्य मम्मट लिखते हैं कि वक्ता द्वारा अन्य प्रकार से कहे हुए वाक्य का अर्थ श्लेष या काकु (कहने के तरीके) के द्वारा श्रोता वक्ता के अभिप्राय से भिन्न समझे, उसे वक्रोक्ति अलंकार कहते हैं–

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा सा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।

अर्थात् जो वक्ता द्वारा अन्य प्रकार से (अन्य अर्थ में) कहा हुआ वाक्य दूसरे अर्थात् बोद्धा या श्रोता के द्वारा श्लेष अर्थात् शब्द के दो अर्थवाला होने से अथवा काकु अर्थात् बोलने के प्रकार से, अन्य प्रकार से अर्थात् वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ में लगा लिया जाता है, वह वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार होता है और वह वक्रोक्ति अलंकार दो प्रकार का होता है–श्लेष वक्रोक्ति ओर काकुवक्रोक्ति। श्लेषवक्रोक्ति के पुनः दो भेद सभंगश्लेष वक्रोक्ति और अभंगश्लेष वक्रोक्ति।

5.2.1 सभंगश्लेष

वहाँ होता है, जहाँ शब्द को संधि–विच्छेद या समासविग्रह के द्वारा तोड़कर वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ लिया जाय। इसके लिए निम्नलिखित श्लोक काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है–

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो
वामानां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान्।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः
सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः।।

यहाँ वक्ता कहता है कि नारियों के अनुकूल आचरण करते हो। इसीलिए समझदार हो।

श्रोता 'नारीणाम्' (स्त्रियों के) का सन्धिविच्छेद कर 'न अरीणां' (शत्रुओं के) अर्थ समझकर उत्तर देता है– कौन ऐसा बुद्धिमान् है जो शत्रुओं के (वामानाम्) अनुकूल आचरण करेगा, अर्थात् कोई नहीं।

लेकिन इसका श्रोता (पूर्व वक्ता) 'वाम' का अर्थ शत्रु न लेकर (स्त्री) लेता है, (संस्कृत में वाम और वामा दोनों का षष्ठी विभक्ति, बहुवचन में 'वामानाम्' रूप बनता है) और यह समझ बैठता है कि कौन बुद्धिमान् स्त्रियों के शासन में रहना पसन्द करेगा, अर्थात् कोई नहीं और उससे पूछता है कि क्या आप अबलाओं का हित करने वाले नहीं हो? (हितकृत् न एव अबलानां भवान्)? लेकिन दूसरा व्यक्ति (श्रोता) 'अबलानाम्' का अर्थ निर्बलानां (निर्बलों का) लेते हुए समझता है कि दुर्बलों के हितों का नाश करने वाले नहीं हो? और उत्तर देता है कि क्या बात करते हैं, निर्बलों के हित का विनाश करना क्या उचित है, अर्थात् बिलकुल नहीं (बलाभावप्रसिद्धात्मनः हितकर्तनं युक्तं किम्?) लेकिन इसका श्रोता या पूर्ववक्ता यहाँ बलाभाव का अर्थ बल के अभाव वाला या निर्बल न लेकर बल नामक असुर को जीतने वाला इन्द्र लेकर समझता है कि क्या देवराज इन्द्र के हित का विनाश करना उचित है, अर्थात् नहीं। और उत्तर देता है कि आप में इन्द्र के हित का विनाश करने की सामर्थ्य कहाँ हैं?

यहाँ केवल 'नारीणाम्' पद का सन्धि–विच्छेद से न = अरीणाम् कर देने से उल्लिखित प्रत्येक कथन का श्रोता और वक्ता अलग–अलग अर्थ समझ बैठे। अतएव इसमें सभंगश्लेष वक्रोक्ति अलंकार है।

5.3.2. अभंगश्लेष

अभंगश्लेष वक्रोक्ति में सन्धि–विच्छेद या समास विग्रह से पद को बिना अलग किए वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ समझा लिया जाता है–

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारूणा तव निर्मिता।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारूमयी क्वचित्।।

अर्थात् किसने तुम्हारी ऐसी दारूण (निर्दय, कठोर) बुद्धि बनाई? लेकिन श्रोता ने दारूणा का अर्थ (दारू का तृतीया बहुवचन में दारूणा) काष्ठेन (काठ से) समझकर उत्तर देता है–(सांख्य दर्शन में) तीन गुणों से बनी बुद्धि तो सुनी जाती है, काठ से बनी बुद्धि तो नहीं सुनी जाती।

यहाँ बिना संधि–विच्छेद या समास–विग्रह किए 'दारूणा' पद का वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ काठ से निर्मित श्रोता ने लिया है। अतएव इसमें अभंगश्लेष वक्रोक्ति है।

5.3.3 काकु–वक्रोक्ति

'भिन्न–कण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।

अर्थात् कंठ–ध्वनि में परिवर्तन से भिन्न अर्थ समझे जाने की स्थिति को काकु वक्रोक्ति कहा जाता है–

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि सुरभिसमयोऽसौ।।

गुरुजनों की आज्ञा से विदेश जाने को वे तैयार हुए। इसलिए हे सखि, भंवरों एवं कोयलों के मधुर ध्वनि के समय (वसन्त में) वे नहीं लौटेंगे।

यहाँ नायिका द्वारा अपनी सखी से कही गई बात है। दूसरे वाक्य को सहेली यों कहती है–

'अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ?'

अर्थात् क्या वे वसन्त में नहीं आएंगे? अर्थात् अवश्य आएंगे (एष्यत्येव)। इस प्रकार काकु से विपरीत अर्थ लिए जाने के कारण यहाँ 'काकुवक्रोक्ति' अलंकार है।

5.4 अनुप्रास अलंकार

आचार्य मम्मट ने काव्य–प्रकाश के नवम उल्लास में शब्दालंकारों के वर्णन–क्रम में अनुप्रास का विवेचन किया है, जिसका लक्षण है–**'वर्णसाम्यमनुप्रासः।'** अर्थात् वर्णों की समानता (आवृत्ति) को अनुप्रास कहा गया है। भले ही व्यंजनों के साथ संयुक्त स्वरों में समानता न हो, लेकिन व्यंजनों में समानता होनी चाहिए। ऐसा होने पर अनुप्रास अलंकार होगा। अनुप्रास की व्युत्पत्ति की गई है–**'रसादि अनुगतं प्रकृष्टश्च न्यास** इति अनुप्रासः।' अर्थात् रसादि के अनुकूल वर्णों के प्रकृष्ट सन्निवेश को ही

'अनुप्रास' कहा जाता है। और वह अनुप्रास पहले वर्णानुप्रास और पदानुप्रासरूप से दो प्रकार का होता है। उसमें वर्णानुप्रास के छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास ये दो भेद होते हैं। पदानुप्रास का दूसरा नाम 'लाटानुप्रास' भी है। यह 1. अनेक पदों की आवृत्ति, 2. एक पद की आवृत्तिरूप, 3. एक समास में आवृत्तिरूप, 4. भिन्न समास में आवृत्तिरूप, 5. समास तथा असमास दोनों में आवृत्तिरू॰ इस तरह से लाटानुप्रास पाँच प्रकार का होता है।

वर्णानुप्रास के दो भेद– 'छेकवृत्तिगतो द्विधा।'

छेकगत ओर वृत्तिगत इस प्रकार वर्णानुप्रास दो प्रकार का होता है।

'छेक' शब्द का अर्थ 'चतुर व्यक्ति' है और वृत्ति अर्थात् वर्णों से रहने वाला रसविषयक (व्यंजना) व्यापार है। अब क्रमशः दोनों का स्वरूप बतलाएंगे।

1. **छेकानुप्रास– 'सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः'।**

   अर्थात् अनेक वर्णों का एक बार आवृत्तिरूप साम्य प्रथम छेकानुप्रास कहलाता है। जैसे–

   ततोऽरूण–परिस्पन्दममन्दीकृतवपुः शशी।
   दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम्।।

   अर्थात् यह रात्रियुद्ध के बाद प्रभातवर्णन का प्रसंग है। तब प्रातः काल के समय सूर्य के सारथी अरुण के गतिशील होने से मलिन स्वरूपवाला चन्द्रमा काम के उपभोग से दुर्बल कामिनी के कपोलस्थल के समान सफेद हो गया।

2. **वृत्यनुप्रास– 'एकस्याप्यसकृत्परः'।**

   अर्थात् एक वर्ण का भी और अनेक वर्णों का भी अनेक बार का आवृत्तिसाम्य होने पर दूसरा अर्थात् वृत्यनुप्रास कहलाता है।

   वृत्यनुप्रास में वृत्ति शब्द समझना आवश्यक है। यहाँ वृत्ति का अर्थ रीति, संघटना, शैली या मार्ग से है। इसमें गुण का भी समन्वय देखा जाता है। आचार्य उद्भट ने अपने काव्यालंकार–संग्रह ग्रन्थ में तीन प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है–उपनागरिका (मधुरा), कोमला और परूषा।

   आचार्य मम्मट ने उपनागरिका की परिभाषा यों की है–

   माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरूपनागरिकोच्यते।

   अर्थात् माधुर्यव्यंजक वर्णों की जहाँ आवृत्ति हो, वहाँ उपनागरिका वृत्ति होती है। आचार्य वामन ने इसे वैदर्भी रीति कहा है।

   ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परूषा।

   अर्थात् ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त परूषा वृत्ति और वामन के मत में गौडी रीति कहलाती है।

   इन दोनों वृत्तियों के उदाहरण माधुर्य गुण तथा ओजगुणों के प्रसंग में 'अनङ्गरङ्गप्रतिमं' तथा 'मूर्ध्नामुद्वृत्त' इत्यादि पहले दिए जा चुके हैं।

कोमला परैः।

अर्थात् शेष वर्णों से युक्त तीसरी वृत्ति उद्भट 72 `मत में कोमला और वामन–मत में पांचाली रीति कहलाती है। कारिका में आए हुए 'परैः' पद का अर्थ उपनागरिका और परूषा वृत्ति अथवा माधुर्य और व्यंजक वर्णों को छोड़कर शेष से युक्त समझाना चाहिए। इसके लिए आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है। इसमें एक वियोगिनी बाला की दशा का वर्णन किया गया है–

अपसारय घनसारं कुरू हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि! मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला।।

अर्थात् रात–दिन बाला यही कहती रहती है कि हे सखि! कपूर को हटाओ, हार को तो दूर ही रखो, इन कमल के फूलों का क्या काम, अर्थात् ये भी व्यर्थ हैं।

3. **लाटानुप्रास**–जहाँ पदों की आवृत्ति होती है, वहाँ लाटानुप्रास होता है। पदों की आवृत्ति में पुनरूक्ति दोष तथा पुनरूक्तवदाभास अलंकार होने की सम्भावना बनी रहती है। आचार्य मम्मट ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है–

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।

अर्थात् तात्पर्य मात्र से भेद होने पर शब्द की आवृत्ति हो, तो लाटानुप्रास होता है।

दक्षिणी गुजरात को लाट देश कहा जाता है। वहाँ के लोगों के प्रिय होने या वहाँ के कवियों द्वारा ऐसा प्रयोग किए जाने के कारण ही इसे लाटानुप्रास कहा जाता है। इसके लिए काव्यप्रकाश में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया गया है–

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।

यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।।

अर्थात् जिसके समीप प्रियतमा नहीं है, चन्द्रमा उसके लिए दावानल की तरह हो जाता है और प्रियतमा जिसके पास होती है, दावानल उसके लिए चन्द्रमा की तरह शीतल अर्थात् आनन्ददायक होता है।

यहाँ अनेक पदों की आवृत्ति है। पूर्वार्द्ध में तुहिनदीधिति में दवदहनत्व विधेय है और उत्तरार्द्ध में दवदहन में तुहिनदीधितत्व विधेय है। इसलिए उद्देश्य–विधेय भाव में भेद होने से तात्पर्यमात्र का भेद हो जाता है। अतः यह लाटानुप्रास का उदाहरण है।

5.5 यमक–अलंकार

लाटानुप्रास में पदों की आवृत्ति होती है और उन आवृत्त पदों में पद या प्रातिपादिक का अर्थभेद नहीं, केवल तात्पर्य मात्र में भेद होता है। यमक में वर्णों की आवृत्ति होती है। वे आवृत्त वर्ण यदि सार्थक हों तो उनके अर्थ का भेद होना आवश्यक है। अन्यथा कहीं एक सार्थक दूसरा अनर्थक भी हो सकता है। परन्तु जहाँ दोनों भाग सार्थक हों वहाँ उनका भिन्नार्थकत्व अनिवार्य है। यही लाटानुप्रास से यमक का भेद हैं। इसी बात को यमक के लक्षण में दिखलाते हैं–

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः।
यमकं पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम्।।

अर्थात् अर्थ होने पर (नियमेन) भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुनः श्रवण (पुनरावृत्ति) यमक नामक शब्दालंकार कहलाता है। यमक अलंकार में यह आवश्यक नहीं है कि आवृत्त वर्ण दोनों स्थलों पर सार्थक ही हों। इसलिए लक्षण में 'भिन्नार्थानां' न लिखकर 'अर्थे सति अर्थभिन्नानां' यह रखा गया है। यही बात वृत्तिभाग में स्पष्ट करते हैं– यह राजा 'समरसमरस' युद्ध में एकरस है, इत्यादि में पहले बार के समर इन वर्णों के सार्थक और दूसरे बार के सम–रस को मिलाकर बने समर के अनर्थक होने से 'भिन्नार्थानां' यह नहीं किया जा सकता है, इसलिए यमक के लक्षण में 'अर्थे सति' यह कहा गया है। उसी क्रम से आवृत्त 'सरो रसः' इस भिन्न क्रम से की गयी आवृत्ति में यमक नहीं होता है। इसलिए इससे भिन्नरूप से नहीं, अर्थात् उसी क्रम से स्थित वर्णों की आवृत्ति यमक में होनी चाहिए।

आचार्य मम्मट का मानना है कि पद और उसके एकदेश (भाग) में रहने से वह यमक अनेक प्रकार का हो जाता है, अर्थात् यमक के अनेक भेद बन जाते हैं। वैसे मम्मट ने यमक के ग्यारह भेद बताए हैं–

1. प्रथम चरण की द्वितीय चरण में आवृत्ति में 'मुख–यमक'।
2. प्रथम चरण की तृतीय चरण में आवृत्ति को 'संदंश–यमक'।
3. प्रथम चरण की चतुर्थ चरण में आवृत्ति को 'आवृत्ति–यमक'।
4. द्वितीय चरण की तृतीय चरण में आवृत्ति होने पर 'गर्भ यमक'।
5. द्वितीय चरण की चतुर्थ चरण में आवृत्ति होने पर 'सन्दंष्ट यमक'।
6. तृतीय चरण की चतुर्थ चरण में आवृत्ति होने पर 'पुच्छ यमक'।
7. प्रथम चरण की आवृत्ति द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरणों में होने पर 'पंक्ति यमक'।
8. प्रथम चरण की द्वितीय चरण में और तृतीय चरण की चतुर्थ चरण में आवृत्ति होने पर 'युग्मक यमक'।
9. प्रथम चरण की चतुर्थ चरण में और द्वितीय चरण की तृतीय चरण में आवृत्ति होने पर 'परिवृत्ति यमक'।
10. श्लोक के पूर्वार्द्ध की उत्तरार्द्ध में आवृत्ति को 'पादभागावृत्ति' और
11. श्लोक की आवृत्ति को 'श्लोकावृत्ति यमक' नाम दिया गया है।

यमक का उदाहरण–

सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम्।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय।।

अर्थात् सती नारियों का भरण करने वाली अथवा आभरणरूपिणी जो उमा अर्थात् पार्वती उसको प्राप्त करने वाले (उमां याति अयते वा इति उमायः) विधुशेखर शिव की आराधना करके (सन्नाः विनाशिताः अरीणां इभा गजाः यत्र तादृशः रणो यस्य सः सन्नारी भरणः) शत्रुओं के हाथियों का विनाश करने वाले युद्ध के प्रवर्तक होकर उस शिव की आराधना से छल–कपटरहित आप पृथिवीं का जप करें। यह श्लोक रुद्रट के

काव्यालंकार में आया है। इसमें 'सन्नारीभरणोमाय' यह प्रथम चरण तृतीय पाद के स्थान पर आवृत्त हुआ है।

5.6 श्लेष–अलंकार

विद्यार्थियों! पिछले पाठ में यमक अलंकार पर चर्चा की गई थी। सम्प्रति श्लेष अलंकार पर चर्चा करने से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि श्लेष शब्दालंकार भी है और अर्थालंकार भी। यहाँ शब्द–श्लेष पर ही चर्चा होगी। काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने श्लेष–अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है–

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
शिलष्यन्ति षब्दाः, ष्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।।

अर्थात् अर्थभेद के कारण भिन्न–भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए श्लिष्ट (एकरूप) प्रतीत होते है, वह श्लेष अलंकार है। वह श्लेष, अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है।

'अर्थ की भिन्नता से शब्द भी भिन्न होते हैं'–इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ–भेद के कारण भिन्न–भिन्न होने वाले भी शब्द जब–'काव्य के क्षेत्र में उदात्त आदि स्वर का विचार नहीं किया जाता' इस न्याय के अनुसार एक उच्चारण के द्वारा श्लिष्ट हो जाते हैं अर्थात् अपने भिन्न–भिन्न स्वरूप को छिपा लेते हैं तथा एकरूप में भासित होते हैं वह शब्द श्लेषालंकार है और वह 1. वर्ण, 2. पद, 3. लिंग, 4. भाषा, 5. प्रकृत्ति, 6. प्रत्यय, 7. विभक्ति, 8. वचन के भेद से आठ प्रकार का होता है। आचार्य मम्मट ने आठों प्रकार के सभंग श्लेष के उदाहरण दिए हैं।

वर्ण–श्लेष का उदाहरण

अलंकारः षंकाकरनरकपालं परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो–
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी।।

अर्थात् देखने वाले के हृदय में भय का संचार करने वाली मनुष्यों की खोपड़ी की हड्डी उनका अलंकार है। गलित अंगों वाला भृंगी नामक शिवजी का एक विशेष गण उनका सेवक है और एक अत्यन्त बूढ़ा बैल उनकी सम्पत्ति है। समस्त देवताओं के मान्य गुरु शिवजी की भी टेढ़े चन्द्रमा या भाग्य के मस्तक पर स्थित होने पर जब यह दुखस्था है, तब क्षुद्र कीटसदृश अत्यन्त तुच्छ हमारी तो गिनती ही क्या है।

यह श्लोक वर्णश्लेष का उदाहरण है। इसमें 'विधौ' पद में वर्णश्लेष है। 'विधि' और 'विधु' दो अलग–अलग शब्द हैं, विधि का अर्थ भाग्य और विधु का अर्थ चन्द्रमा है। इन दोनों शब्दों का सप्तमी के एकवचन में 'विधौ' यह समानाकार एक ही रूप बनता है। केवल इकार और उकार वर्णों के भेद से अर्थभेद होता है, इसलिए यह वर्णश्लेष का उदाहरण है।

पदश्लेष का उदाहरण

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्।।

अर्थात् कोई याचक किसी राजा के सामने कह रहा है कि इस समय मेरा और आपका घर एक समान अवस्था में है। दोनों घर की समता वह तीन श्लिष्ट पदों द्वारा दिखला रहा है। इसमें 'पृथुकार्तस्वरपात्रं' 'भूषितनिःशेषपरिजन तथा 'विलसत्करेणुगहनं' इन तीन पदों में श्लेष है। इनमें से पहला पद 'पृथुकार्तस्वरपात्रं' है। इसके दोनो पक्षों में अर्थ भिन्न–भिन्न प्रकार है। 'पृथुकानां बालानाम् आर्तस्वरस्य पात्रं' अर्थात् मेरा याचक का घर बालकों के रोने का स्थान है, मेरे घर में भूखे बालक रो रहे हैं, और आपका (राजा का) घर **'पृथूनि महन्ति कार्त्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि यस्मिस्तत् पृथुकार्तस्वरपात्रं'** सोने के बड़े–बड़े बरतनों से युक्त है।

दूसरा पद 'भूषितनिःशेषपरिजनं' है। इसका राजा के पक्ष में 'भूषित' अर्थात् अलङ्कृत है सारे परिजन, सेवक आदि जिसमें यह अर्थ होता है, और याचक के पक्ष में 'भूवि पृथिव्याम् उथिताः सर्वे परिजनाः यस्मिन्' जिसमें परिवार के सारे लोग जमीन पर पड़े हुए है यह अर्थ होता है। इसमें 'भूषित' एकपद को अथवा 'भूषितनिश्शेषपरिजनं' इस समस्त पद को श्लिष्ट मानकर पदश्लेष कहा गया है। इसी प्रकार 'विलसत्करेणुगहनं' यह तीसरा श्लिष्ट पद है। राजा के पक्ष में 'विलसन्तीभिः करेणुभिर्गहनं व्याप्तं' अर्थात् झूमती हुई हथिनियों से युक्त यह अर्थ होता है और याचक के पक्ष में 'विले सीदन्ति इति विलसत्काः' मूषकाः तेषां रेणुः धूलिः तया गहनं अर्थात् चूहों के खोदे हुए बिलों के धूल से भरा हुआ मेरा घर है यह अर्थ होता है। अतः यह पदश्लेष का उदाहरण है। श्लोक का अर्थ निम्नलिखित प्रकार है–

हे राजन! इस समय हम दोनों का घर 'पृथुकार्तस्वरपात्र' 'बच्चों के रोने का स्थान तथा, बड़े–बड़े सोने के पात्रों से युक्त, भूषितनिःशेषपरिजन' पृथिवी पर लोटते हुए परिजनों वाला तथा अलङ्कृत परिजनों वाला और 'विलसत्करेणुगहनं' चूहों की मिट्टी से भरा हुआ तथा झूमती हुई हथिनियों से भरा हुआ, होने से एक समान हो रहा है।

लिङ्गश्लेष तथा वचनश्लेष का उदाहरण–

भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीतेहितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मी दृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरूता भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः।।

शाण्डिल्य मुनि ने भक्तिसूत्र नामक ग्रन्थ में 'अथातो भक्ति जिज्ञासा सा परानुरक्तिरीश्वरे' इस प्रकार ईश्वर के विषय में परानुरक्ति को भक्ति नाम से कहा है उस भक्ति नम्र हुए भक्तजनो को कृपापूर्वक देखने के लिए अनुरागयुक्त, नील कमलों के सदृश सुन्दर हित रूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए समाधिस्थ योगियों द्वारा अपने ध्यान के विषय बनाए हुए, अपरिमित सौन्दर्य का आधार अपनी पत्नी लक्ष्मी के नेत्रों में रसिकता को उत्पन्न करने वाले, हरि, विष्णु के दोनों नेत्र तुम्हारी भवबाधा को दूर करें।

अथवा तनुपक्ष के 'भक्तिप्रह्वानां विलोकनप्रणयो दर्शनानुरागो यस्यां सा भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी' भक्तजन जिसको अनुराग पूर्वक देखते है, रंग तथा

सौन्दर्य दोनो में नीलकमलों के साथ स्पर्धा करने वाली नीलकमलों के सदृश, ईहितप्राप्तये अभीष्टसिद्धि के लिए समाधिस्थ योगियों द्वारा चिन्तन की जाने वाली ध्यान का विषय बनायी हुई, सौन्दर्य की महानिधि तनुपक्ष में 'महानिधिः रसिकतां' इन पदों के बीच के विसर्गों का 'रो रि' सूत्र से लोप होकर 'ढ्रलोपेपूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्र से दीर्घ होकर 'महानिधी' पद बनता है। नेत्र पक्ष में निधिशब्द को जहल्लिङ्ग मानकर 'महानिधी' यह प्रथमा के द्विवचन का प्रयोग है। लक्ष्मी के नेत्रों में रसिकता को उत्पन्न करने वाली विष्णु की देह तुम्हारी भवपीड़ा का नाश करे। यह तनु पक्ष में एकवचन तथा नेत्रे पक्ष में द्विवचन होने से वचनश्लेष का उदाहरण भी है। इसलिए श्लेष के आठवें भेद वचनश्लेष का उदाहरण आगे नहीं देगें।

भाषाश्लेष का उदाहरण–

महदेसुरसन्धम्मे तमवसमासङ्गमागमाहरणे।
हरवहुसरणं तं चित्तमोहमवसरउमे सहसा।।

हे आनन्ददायिनि महदे गौरी! वेद विद्या के उपार्जन में मेरे उस अनुराग को बनाये रखो और अवसर पर कभी उत्पन्न होने वाले उस प्रसिद्ध चित्त के अज्ञान या मोह को तत्काल मिटा दो।

प्राकृत भाषा के पक्ष में इस श्लोक की संस्कृत–छाया और अर्थ निम्नलिखित प्रकार होगा–

मम देहि रसं धर्मे तमोवशाम् आशां गमागमात् हर नः।
हरवधु शरणं त्वं चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसा।।

हे हरवधु पार्वती! आप मेरी एकमात्र शरण हो, आप सदा धर्म में मेरा प्रेम बनाये रहो और गमो गमनं मरणम्, आगमः आगमनं पुनर्जन्म यस्मिन् तस्मात् गमागमात् संसारात् संसार की ओर से हमारी अज्ञानमयी तमोवशां सुखप्राप्ति की आशा को मिटा दो, जिससे मेरा चित्त का अज्ञान दूर हो जाये।

प्रकृतिश्लेष का उदाहरण–

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति।
सामर्थ्यकृद मित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः।।

इसमें 'वक्ष्यति' यह रूप 'वह' धातु तथा 'वच' धातु दोनों का लृट लकार में एक सा ही बनता है। इसलिए 'धारण करेगा' और 'कहेगा' ये दोनों अर्थ इसके होते है। इसी प्रकार 'सामर्थ्यकृत्' इस पद में सामर्थ्य के उपपद रहते 'डुकृञ् करणे' और 'कृतीछेदने' दोनों धातुओं से 'सामर्थ्य करोति इति सामर्थ्यकृत्' तथा 'सामर्थ्यं कृतन्ति छिनत्ति विनाशयति इति सामर्थ्य कृत् यह एक सा ही रूप बनता है। दोनों जगह वह और वच धातु के लृट लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन के तिप् प्रत्यय के तथा डुकृञ् और कृती धातु के क्विप् प्रत्यय के समान होने पर भी केवल धातुओं का भेद होने से यह प्रकृतिश्लेषका उदाहरण है। श्लोक का अर्थ निम्नलिखित प्रकार है–

यह राजा का पुत्र समस्त शास्त्रों का 'अपने' हृदय में 'वक्ष्यति' धारण करेगा, और 'ज्ञेषु' विद्वानों में 'वक्ष्यति' कहेगा तथा शत्रुओं 'अमित्राणां' की शक्ति का नाश करने वाला एवं मित्रों की शक्ति की वृद्धि करने वाला होगा।

प्रत्ययश्लेष का उदाहरण–

रजनिरमणमौलेः पादपद्मवलोक–
क्षणसमयपराप्तापूर्वसम्पत्सहस्रम्।
प्रमथनिवहमध्ये जातुचित् त्वत्प्रसादा–
दहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे।।

कोई शिवका उपासक शिव जी की उपासना करते हुए अपने भविष्य में यह कामना कर रहा है कि–

आपकी कृपा से कभी मैं 'रजनीरमणमौली', चन्द्रमौली' शिवजी के चरणकमलों के 'अवलोकन' दर्शन के साथ ही अपरिमित अपूर्व आनन्द को प्राप्तकर 'उनके' गणों 'सेवक समुदाय' के मध्य में उचित अनुरागयुक्त और 'नन्दिता नन्दकः स्याम्' आनन्द प्राप्त कराने वाला होऊँ तथा वहीं 'अर्थात् शिवजी के गणों के भीतर गणना ही 'मेरे लिए' नन्दिनो भावः 'नन्दिता' अर्थात् उनके प्रमुख अनुचर 'नन्दि' नामक गण' के नन्दी पद की प्राप्ति के समान् हो।

यहाँ 'स्यान्नन्दिता' पदों में प्रत्ययश्लेष है यह सन्धि किया हुआ रूप है। सन्धि का विच्छेद करने पर दो प्रकार को पदच्छेद निकलते है, एक 'स्यात्–नन्दिता' और दूसरा 'स्याम् नन्दिता'। अहं नन्दिता स्याम्' और 'सा–मे नन्दिता स्यात्' ये दो प्रकार के उसके अन्वय होते है। अर्थात् 'स्याम्' और 'स्यात्' पदो में उत्तम पुरुष तथा प्रथम पुरुष के प्रत्यय भाग मात्र का भेद होने से प्रत्यय श्लेष है। इसी प्रकार 'नन्दिता' पद में 'नन्दिनो भावः नन्दिता' इस विग्रह में तद्धित का तत् प्रत्यय है और 'नन्दकः स्याम्' इस अर्थ वाले पक्ष में कृत् संज्ञक तृच प्रत्यय होता है इसलिए इन दोनों पदों में प्रत्यय मात्र का भेद होने से यह प्रत्यय श्लेष का उदाहरण है।

विभक्तिश्लेष का उदाहरण–

सुप तथा तिङ् विभक्तियों के श्लेष का अगला उदाहरण देते हैं।

सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः।
नयोपकारसाम्मुख्यमायासि तनुवर्तनम्।।

शिव का भक्त कोई डाकू अन्य लोगों के सामने प्रार्थना करते हुए, समीप में ही उपस्थित अपने पुत्र को दस्यु कर्म का उपदेश इस शिवोपासनापरक श्लोक से ही देते हुए कह रहा है कि–हे हर 'शिवजी महाराज!' आप सबके सर्वस्व हैं, और भव 'बन्धन' का नाश करने वाले हैं। नीति 'सदाचार या धर्मसंस्थापन' और 'साधुओं के परित्राणरूप' उपकार के अनुकूल 'परित्राणाय साधूनां धर्मसंस्थापनार्थाय च' शरीरव्यवहार 'अवतार धारणरूप व्यापार' को प्राप्त होते है। यह श्लोक का शिवस्तुतिपरक अर्थ है दूसरे पक्ष में हे पुत्र! त्वं सर्वस्य सर्वस्वं हर तू किसी को छोड़ मत सबका सब कुछ छीन ले और केवल माल छीनकर ही सन्तोष न कर, अपितु सब को जान से मारकर साफ कर देने के लिए उनके गलों को काटने पर में तत्पर हो जा। 'उपकार सामुख्यं नय' किसी के साथ उपकार अथवा अनुकूलता या कृपा मत कर बल्कि सदा की सबके प्रति आयासि वर्तनं तनु पीड़ा देने वाला व्यवहार कर।

यहाँ पर 'हर' तथा 'भव' पदों में विभक्तिश्लेष है। ये दोनों पद शिव के पर्यायवाचक है। इसलिए शिवपक्ष में ये दोनों सम्बोधन विभक्ति में सुबन्त पद हैं। दूसरे दस्युव्यापार

की शिक्षा देने वाले पक्ष में ये दोनों तिङन्त क्रिया पद है। इसलिए इन दोनों में विभक्ति श्लेष है। यद्यपि विभक्तिश्लेष भी प्रत्ययश्लेष के अन्तर्गत हो सकता है, फिर भी उसके विशेष चमत्कारजनक होने से उसको अलग कहा गया है।

इस प्रकार यहाँ तक श्लेष के सात उदाहरण दिये हैं वही वचन श्लेष का भी उदाहरण हो सकता है यह बात पहले कह चुके हैं। इसलिए इसका अलग उदाहरण नहीं दिया है।

अभङ्गश्लेष का लक्षण—

भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत्।

अर्थात् प्रकृति प्रत्यय आदिका भेद न होने से पूर्वोक्त आठ प्रकार के सभङ्गश्लेषों से भिन्न अभङ्गश्लेष नवम् भेद भी हो सकता है।

कारिका में 'अपि' शब्द भिन्न क्रम है अर्थात् जहाँ वह पढ़ा हुआ है वहाँ उसका अन्वय न होकर 'नवमः' शब्द के बाद उसका अन्वय होता है 'नवमोऽपि' भेदो भवेत्। अर्थात् आठ भेदों के अतिरिक्त नवम भेद भी है।

अभङ्गश्लेष का उदाहरण

योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः।
शतकोटिदतां बिभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते।।

अर्थात् जो राजा अनेक बार 'परगोत्राणां', शत्रुवंशों के 'पक्षच्छेदक्षणक्षमः अर्थात् सहायकों के तनिक—सी देर में नाश कर देने में समर्थ है 'शतकोटीः कोटिशतं ददातीति शतकोटिदः तस्य भावः शतकोटिदता तां बिभ्रत्' शतकोटि उपरिमित धन को देने वाला 'विबुधेन्द्र' वह विद्वच्छिरोमणि देवराज के समान सुशोभित होता है। दूसरे इन्द्रपक्ष में शतकोटिः वज्रं तेन द्यतिखण्डयति इति शतकोटिदः।' तस्य भावः शतकोटिदता' वज्र से नाश करने की सामर्थ्यवाला, असकृत् अनेको बार 'परगोत्राणां' उत्तम पर्वतों के 'पक्षच्छेद' अर्थात् पंखा के काटने में क्षण में समर्थ है, वह देवराज इन्द्र शोभित होता है।

यहाँ प्रकरणादि के द्वारा अनेकार्थक परगोत्रादि शब्दों के एक अर्थ में नियमन न होने से राजा परक और इन्द्रपरक दोनो ही अर्थ वाच्य है।

इसलिए यहाँ श्लेष अलङ्कार है और यह अभङ्गश्लेष का उदाहरण है।

5.7 पुनरुक्तदाभास—अलंकार

इस प्रकार वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष का निरूपण करने के पश्चात् पुनरुक्तवदाभास अलंकार का निरूपण करते हैं। यह पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों में गिना जाता है, इसलिए शब्दालंकारों के निरूपण के बाद तथा अगले दशम उल्लास में अर्थालंकारों का निरूपण प्रारम्भ करने के पहले दोनों के बीच में रखा गया है। विभिन्न स्वरूप के शब्दों में रहने वाली समानार्थक न होने पर भी समानार्थता—सी जो प्रतीति होती है वह पुनरुक्तवदाभास अलंकार कहलाता है।

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम्।।

अर्थात् भिन्न–भिन्न रूप वाले सार्थक और अनर्थक शब्दों में आपाततः एकार्थकता की प्रतीति होना ही पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकार होता है अर्थात् पुनरुक्तिसी प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुतः होती नहीं। यह दो प्रकार का होता है–

1. शब्दमात्रगत तथा 2. शब्दार्थगत। शब्दमात्र में होने वाला भी दो प्रकार का होता है–(क) सभंग शब्दनिष्ठ और (ख) अभंग शब्दनिष्ठ।

सभंग शब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास अलंकार का उदाहरण है–

अरिवधदेहशरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः।
भाति सदानत्यागः स्थिरतयामवनितलतिलकः।।

अर्थात् शत्रुविनाशिनी चेष्टा वाले योद्धाओं को प्रेरित करने वाला और जिसके अश्व तथा पदाति सहसा शीघ्र रथियों के साथ भली प्रकार मिल गये हैं, इस प्रकार का तथा स्थिरता में पर्वत के समान और भूतल का भूषणरूप राजा सदा विनम्रता से शोभित होता है। प्रस्तुत पद्य में देह–शरीर, सारथि–सूत और दान–त्याग शब्दों की आपाततः पुनरुक्ति सी प्रतीति होती है, किन्तु अन्त में पुनरुक्ति नहीं रहती है। ये शब्द सभी सभंग हैं। इसलिए यह शब्दनिष्ठ सभंग पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण है। देह–शरीर में दोनों शब्द सार्थक और सभंग हैं। सारथि–सूत में पहला शब्द अनर्थक और दूसरा सार्थक है और दोनों सभंग हैं। दान–त्याग दोनों अनर्थक और सभंग हैं। इनमें से किसी का परिवर्तन कर देने पर यह अलंकार नहीं रह सकता है। इसलिए शब्दपरिवृत्यसह होने के कारण शब्दालंकार माना जाता है। आगे अभंग शब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण देते हैं–

चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः।
तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः।।

अर्थात् उस राजा के पार्श्ववर्ती सुन्दरी स्त्रियों के साथ रमण करने वाले, काव्यचर्चा आदि के द्वारा आनन्द प्रदान करने वाले सुन्दर मन वाले सहृदय और विद्वान् पार्श्ववर्ती मित्र शोभित होते हैं।

इस पद्य में अंगनाः–रामाः, कौतुक–आनन्द और सुमनसोविबुधाः शब्द आपाततः पुनरुक्त से प्रतीत होते हैं, परन्तु अर्थ का विचार करने पर पुनरुक्ति नहीं रहती है। ये शब्द अलंकार हैं। इनमें शब्दपरिवृत्तिसहत्व नहीं है। इसलिए यह श्लोक अभंग पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण है।

इसके अलावा यह पुनरुक्तवदाभास शब्द तथा अर्थ दोनों के आश्रित उभयालंकार होता है। इसका उदाहरण है–

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुंजररूधिररक्तनखरः।
तेजोधाममहः पृथुनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः।।

अर्थात् यह सिंह कृशशरीर होने पर भी श्रेष्ठ अत्यन्त बलवान् बड़े श्रेष्ठ हाथियों के रक्त से रंगे हुए तीक्ष्ण नखों वाला, तेज का धाम, तेज के कारण उदार मन वालों का राजा और विजयशील है।

इसमें तनु, रक्त, कुंजर इत्यादि कुछ पदों का परिवर्तन कर देने पर यह अलंकार नहीं रहता है, इसलिए उस अंश में शब्दाश्रित है। और वपुः, करिः, रूधिर आदि दूसरों का परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार की हानि नहीं होती है, इसलिए उस अंश में अर्थनिष्ठ है। अतः यह उभयालंकार होता है।

5.8 सारांश

इस इकाई में अलंकार के स्वरूप एवं शब्दालंकार के 5 भेदों की चर्चा की गई। वैसे आचार्य मम्मट ने भी अलंकारों की उपस्थिति को आवश्यक रूप से स्वीकार किया है, लेकिन उनका कहना है कि यदि कहीं अलंकार न हो और शब्द तथा अर्थ दोष–रहित और गुण के साथ हैं, तो भी काव्यत्त्व की हानि नहीं होती है। श्लेष एवं काकु के भेद से वक्रोक्ति अलंकार की विशद चर्चा की गई। अनुप्रास की व्युत्पत्ति की गई–'रसादि अनुगतं प्रकृष्टश्च न्यास इति अनुप्रासः।' अर्थात् रसादि के अनुकूल वर्णों के प्रकृष्ट सन्निवेश को ही 'अनुप्रास' कहा जाता है। इस क्रम में अनुप्रास के सभी प्रकारों की उदाहरण सहित व्याख्या की गई। अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुनः श्रवण (पुनरावृत्ति) यमक नामक शब्दालंकार कहलाता है। अर्थभेद के कारण भिन्न–भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए श्लिष्ट प्रतीत होते हैं वहाँ श्लेष अलंकार है। उसके वर्ण पर, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, वचन के भेद से आठ प्रकारों की चर्चा यहाँ की गई। इन सबके साथ पुनरुक्तवदाभास अलंकार का भी निरूपण किया गया। आचार्यों ने इस अलंकार को उभयालंकार की कोटि में रखा है। विभिन्न स्वरूप के शब्दों में रहने वाली समानार्थक न होने पर भी समानार्थकता सी जो प्रतीति होती है वह पुनरुक्तवदाभास अलंकार कहलाता है।

5.9 शब्दावली

1. अंगद्वारेण = गौणरूप से
2. काकु = भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।
3. सभंग = भंग–युक्त, सन्धि–विच्छेद / समास–विग्रह युक्त
4. अभंग = भंग–रहित, सन्धि–विच्छेद / समास–विग्रह रहित
5. सुरभिसमयः = वसन्तकाल
6. छेक = चतुर, विदग्ध
7. विधुशेखर = चन्द्रमा
8. सदनम् = गृह, भवन

5.10 बोध प्रश्न

1. अलंकार का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए शब्दालंकार को परिभाषित करें।
2. वक्रोक्ति अलंकार का लक्षण उदाहरण सहित व्याख्या करें।
3. अनुप्रास अलंकार को परिभाषित करते हुए उसके भेदों की चर्चा करें।
4. वाच्यभेदेन भिन्नाः यद् युगपद्भाषणस्पृशः।

शिलष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।।

इस कारिका की व्याख्या करें।

5. यमक अलंकार का सभेद निरूपण करें।

5.11 उपयोगी पुस्तकें

1. अमरकोश – अमरसिंह
2. भक्तिसूत्र – शाण्डिल्यमुनि
3. ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन
4. सरस्वतीकण्ठाभरणम् – भोजराज

इकाई 6 अर्थालंकार–वक्रोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, दृष्टान्त, दीपक, विभावना, विशेषोक्ति, अर्थान्तरन्यास, परिसंख्या, भ्रान्तिमान्

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप–

- अर्थालंकार के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- सादृश्यमूलक अलंकारों के बारे में जान सकेंगे।
- उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति अर्थान्तरन्यास अलंकारों के स्वस्प को समझ सकेंगे।
- दृष्टान्त, दीपक, भ्रान्तिमान्, परिसंख्या अलंकारों के परिचय देने में समर्थ हो सकेंगे।
- विरोधमूलक विभावना एवं विशेषोक्ति अलंकार को परिभाषित कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

प्रथम इकाई में काव्य का लक्षण करते समय 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' यह भी 'शब्दार्थों' का एक विशेषण दिया गया था। उसको स्पष्टरूप से समझाने के लिए

अलंकारों का निरूपण करना आवश्यक है, इसलिए इस इकाई में अलंकार की चर्चा की जाएगी। पिछली इकाई में शब्दालंकारों का निरूपण किया गया। प्रस्तुत इकाई में अर्थालंकारों पर सोदाहरण चर्चा की गई है। अर्थालंकार से अभिप्राय है, ऐसे अलंकार जो शब्दपरिवृत्तिसह होते हैं अर्थात् यदि उन शब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जाये तो भी अलंकारों की कोई हानि नहीं होती है, वे अलंकार शब्दाश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होते हैं। इसलिए अर्थालंकार कहलाते हैं। इस इकाई में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, दृष्टान्त, दीपक, भ्रान्तिमान्, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास, विभावना, विशेषोक्ति अलंकारों का सभेद निरूपण किया गया है।

6.2 उपमा अलंकार

प्रिय विद्यार्थियों! 'काव्य–प्रकाश' में प्रतिपादित 61 अर्थालंकारों में उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, ससन्देह, भ्रान्तिमान, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति आदि 29 अलंकार सादृश्यमूलक अलंकार हैं। उक्त सादृश्यमूलक अलंकारों का आधारभूत 'उपमा' अलंकार है। इसलिए ग्रन्थकार ने सब अलंकारों से पहले उपमा का निरूपण किया है।

उपमा अलंकार में 1. उपमान, 2. उपमेय, 3. साधारण धर्म या सादृश्य तथा 4. उपमावाचक शब्द इन चार का उपयोग होता है। 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' यहाँ अधिकगुणवत्तया सम्भावित चन्द्रमा उपमान और न्यूनगुणवत्तया सम्भावित मुख उपमेय है। सौन्दर्य या मनोज्ञत्व उन दोनों का समानधर्म है और यथा, इव आदि शब्द उपमा के वाचक शब्द होते हैं। उपमान तथा उपमेय के समान धर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा अलंकार कहलाता है। परन्तु उपमा में उपमान तथा उपमेय का भेद होना आवश्यक है। 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इत्यादि स्थलों में भी सादृश्य का वर्णन किया गया है परन्तु इसमें उपमान तथा उपमेय दोनों एक ही हैं, अलग–अलग नहीं इसलिए यहाँ उपमा नहीं अपितु 'अनन्वय अलंकार' होता है।

आचार्य मम्मट ने उपमा का लक्षण निम्नलिखित रूप से दिया है–**साधर्म्यमुपमा भेदे।**

अर्थात् उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा–अलंकार कहलाता है। उपमान और उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्य–कारण आदि का नहीं, इसलिए उनका ही समानधर्म से सम्बन्ध ही उपमा है। लक्षण में 'भेद' शब्द का ग्रहण अनन्वय अलंकार से पृथक् करने के लिए है।

वह उपमा 1. पूर्णोपमा और 2. लुप्तोपमा के भेद से दो प्रकार की होती है। उपमान, उपमेय, साधारण–धर्म, इव आदि इन चारों का ग्रहण होने पर 'पूर्णोपमा तथा उन चारों में से एक या दो या तीन का लोप होने पर 'लुप्तोपमा' अलंकार होता है। इसके पश्चात् पुनः पूर्णोपमा के छह भेद होते हैं। श्रौती तथा आर्थी के भेद से वाक्यगत, समासगत, तद्धितगत तीन प्रकार की 3 x 2 = 6 कुल छह प्रकार की पूर्णोपमा होती है।

श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा का भेद

डपमावाचक शब्दों में यथा, इव, वा आदि शब्दों तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दों के अर्थबोधन में कुछ भेद पाया जाता है। यथा, इव वा आदि शब्द उपमान के विशेषण होते हैं और सुनने के साथ ही साधारण धर्म के सम्बन्धरूप सादृश्य का बोध करा देते

हैं, इसलिए उनके प्रयोग में 'श्रौती उपमा' कहलाती है। इसके विपरीत तुल्य, सदृश आदि दूसरे प्रकार के उपमावाचक शब्द कभी उपमान के साथ, कभी उपमेय के साथ, कभी दोनों के साथ अन्वित होते हैं। इसलिए उनमें विचार करने के बाद साधारण धर्म के सम्बन्ध की प्रतीति होती है, इसलिए उनके प्रयोग में 'आर्थी उपमा' मानी जाती है। वाक्यगत और समासगत श्रौती तथा आर्थी उपमा का भेद यथा, इव, वा आदि तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दों के प्रयोग के आधार पर ही होता है।

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः। (अष्टाध्यायी. 5.1.115)

तत्र तस्येव से इवार्थ में वति–प्रत्यय होने से श्रौती तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' से तुल्यार्थ में वति–प्रत्यय होने से 'आर्थी उपमा' होती है।

वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुंचति।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा।।

अर्थात् स्वाधीनपतिका नायिका के समान विजयश्री प्रभाव के कारणभूत आपको स्वप्न में भी युद्धों में नहीं छोड़ती है। इस पद्य में 'स्वाधीनपतिका यथा' यह वाक्यगा श्रौती उपमा है। 'स्वाधीनपतिका' उपमान है, 'विजयश्रीः' उपमेय है। 'न मुंचति' यह अपरित्यागरूप साधारणधर्म और 'यथा' यह उपमावाचक शब्द है। अतः यह पूर्णोपमा है।

वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण

चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते।।

अर्थात् चकित भयभीत हरिणी के समान चंचल नेत्रो वाली उस नायिका का क्रोध से आरक्त मुख और यह हाथ में लिया हुआ कमल दोनो एक–से सम हो रहे हैं। इसलिए क्रोध से आरत नायिका का मुख नायक के मन में आनन्द उत्पन्न करता है।

इससे सरसिज उपमान है, आनन उपमेय है, अरुण के समान कान्तिमत्व साधारणधर्म और समम् यह उपमावाचक शब्द है। 'सम के साथ समास न होने से वाक्यगा श्रौती उपमा है।

आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण

अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार।।

अर्थात् शौरि अर्थात् श्रीकृष्ण जिस प्रकार विष्णुरूप में अपनी चार भुजाओं से संसार को धारण करते है इस प्रकार राजा साम, दाम, दण्ड तथा भेदरूप चार उपायो से सदा संसार का पालन करता था। यह मुख्य वाक्यार्थ है।

शेष पाँच विशेषण है जो विष्णु की भुजाओ तथा सामादि उपायो दोनो के पक्ष में लगते है जैसे–

1. अत्यायतै अर्थात् बाहुपक्ष में अत्यन्त लम्बे आजानुलम्बी बाहुओं तथा उपायपक्ष में अत्यन्त शुभ परिणाम वाले उपायों से।

2. उद्धतो का नियन्त्रण करने वाले बाहुओं तथा उपायों से यह विशेषण दोनो पक्षों में समान ही रहता है।
3. दिव्य अर्थात् अलौकिक बाहुओं तथा उपायपक्ष में उत्कृष्ट उपायों से।
4. प्रभाभिः कान्तियों से उपलक्षित बाहुओं तथा प्रभाव से युक्त उपायों से अथवा 'प्रकर्षण भान्तीति प्रभा तैः' इस व्युत्पत्ति से दोनों पक्षों में उत्तम शोभायुक्त बाहुओं तथा उपायों से।
5. अनपायमयै! अपायाभावप्रचुरैः अर्थात् सनातन तथा सदा सफल होने वाले एवं
6. लक्ष्मी विष्णु–पत्नी तथा सम्पत्ति के आधारभूत चार बाहुओं के समान समादि चार उपायों से जो राजा सदा संसार का पालन करता था।

इसमें 'भुजैः उपमान है–'उपायैः' उपमेय है।

'अत्यायतत्वादि' साधारणधर्म तथा 'इव' उपमा–प्रतिपादक शब्द है 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्य लोपः पूर्वपद प्रकृति स्वरत्वं च' इस वार्तिक के अनुसार यहां 'भुजैः' इस उपमान पद के साथ 'इव' इस उपमावाचक पद का नित्यसमास होने से समासगा श्रौती उपमा है।

समासगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण

> **अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः।**
> **सुरतरूसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर न कस्य।।**

अर्थात् अव्यर्थ मनोरथ–मार्गों के विस्तार में प्रकृष्ट गुण–गरिमा के कारण जिसकी समृद्धि है अर्थात् आप के पास आने वाले याचकों के मनोरथ कभी व्यर्थ नहीं होते। उन्हें अपने मनोरथ के अनुसार धन–धान्यादि अवश्य प्राप्त होता है ऐसी आपकी लक्ष्मी की प्रसिद्धि है। इसलिए कल्पवृक्ष के समान हे राजन्! आप किसकी अभिलाषा या कामना के विषय नहीं हैं हर एक व्यक्ति आपको चाहता है। यहाँ 'सुरतरू' उपमान, 'क्षितीश्वर' उपमेय, 'प्रगुणगरिमगीतश्रीत्व' तथा अभिलषणीयत्व' साधारणधर्म एवं 'सदृश' उपमावाचक शब्द है। 'सुरतरूसदृश' में उपमान तथा उपमावाचक पदों का समास होने से यह समासगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण है।

तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण

वाक्यगा श्रौती, वाक्यगा आर्थी, समासगा श्रौती, समासगा आर्थी इन चार प्रकार की पूर्णोपमा के उदाहरण देने के बाद अब तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी दोनों प्रकार की तद्धितगा पूर्णोपमा का एक ही उदाहरण में प्रयोग दिखलाते हैं–

> **गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गंगा भुजगवत्।**
> **दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत्।।**

अर्थात् इस राजा के गाम्भीर्य की गरिमा सचमुच गंगा के उपपति (अर्थात् समुद्र, गंगा के वास्तविक पति शान्तनु थे इसलिए समुद्र गंगा का उपपति हुआ) के समान है। और युद्धभूमि में यह ग्रीष्मकाल के सूर्य के समान बड़ी कठिनाई से देखा जाता है।

यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'गंगाभुजंगवत्' अर्थात् 'समुद्र' उपमान 'तस्य' उपमेय 'गाम्भीर्यगरिमा' साधारण धर्म तथा 'गंगाभुजंगस्य इव' इति गंगाभुजंगवत्' इस विग्रह में

'तत्र तस्येव' सूत्र द्वारा षष्ठयन्त गंगा भुजंगस्य पद से इवार्थ में वति प्रत्यय होने से यह तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण होता है।

श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'निदाघाम्बररत्न' उपमान, 'सः' उपमेय, 'दुरालोकत्व' साधारण धर्म तथा 'निदानघाम्बररत्नवत् इस विग्रह में तृतीयान्त निदाघाम्बररत्नेन पद से 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र द्वारा वति प्रत्यय होने से यह तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण है।

इस प्रकार पूर्णोपमा के सभी छः प्रकार के भेदों की चर्चा हुई अब आइए आगे लुप्तोपमा के उदाहरण को समझते हैं।

इसी प्रकार आचार्य ने क्रमशः सभी का उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसके पश्चात् लुप्तोपमा के 19 भेदों के भी सविस्तारपूर्वक लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। लुप्तोपमा का उदाहरण–

धन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः।
करणीयं वचश्चेतः! सत्यस्यामृतं यथा।।

इसमें अमृत उपमान और वचन उपमेय है। परिणामसुर सत्व आदि उनका साधारण धर्म है, परन्तु अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है। इसलिए यह धर्मलुप्तोपमा का उदाहरण है।

6.3 उत्प्रेक्षा अलंकार

सादृश्यमूलक उत्प्रेक्षालंकार का लक्षण आचार्य मम्मट ने इस प्रकार दिया है–

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।

प्रकृत अर्थात् वर्ण्य उपमेय की सम अर्थात् उपमान के साथ सम्भावना अर्थात् उत्कटैककोटिक सन्देह उत्प्रेक्षा कहलाती है। उदाहरण देते हैं–

(क) **उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया**–

मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः।
नीतः षान्तिं प्रसभमनया वक्रकान्त्येति हर्षा–
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु! ते पादयोः पद्मलक्ष्मी।।

नायक की नायिका के प्रति उक्ति है– हे सुन्दर शरीर वाली प्रेयसि, मैं समझाता हूँ कि कमल की शोभा, इस हर्ष से तुम्हारे चरणों में गिर गई है कि इस कमल सदृश नेत्रों वाली सुन्दरी ने अपने मुख की कान्ति से उस चन्द्रमा के सौन्दर्यदर्प को बलपूर्वक निवारण कर दिया है जो मेरा (कमलशोभा का) सहजशत्रु है तथा रात्रि में मेरे विकास (उन्मेष) को सहन नहीं कर सकता।

यहाँ स्वाभाविक चरणशोभा उपमेय है, उनमें उपर्युक्त हर्ष के हेतु से चरणों में लिपटने वाली कमलशोभा (उपमान) की सम्भावना की गई है। अतएव हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

(ख) क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण देते हैं–

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।।

अर्थात् मानों अंधकार अंगों को लिप्त (लेपन) कर रहा है, आकाश काजल सा बरस रहा है इससे दुर्जन की सेवा के समान दृष्टि व्यर्थ हो गई हैं।

प्रस्तुत पद्य 'मृच्छकटिकम्' से उद्धृत है। यहाँ अन्धकार की अगों में व्याप्ति को 'लेपन' के रूप में उत्प्रेक्षित किया गया है तथा कालिमा के प्रसरण में 'वर्षण' की सम्भावना की गई है, अतएव यहाँ क्रिया–स्वरूपोत्प्रेक्षा है। यहाँ 'इव' शब्द सम्भावना अर्थ में है।

जब उत्प्रेक्षावाचक 'इव' पद हो और उसका सम्बन्ध क्रियापाद के साथ न होकर किसी अन्य पद के साथ हो उस स्थल पर उत्प्रेक्षा का निर्णय करना जरा कठिन हो जाता है। ऐसे स्थलों पर उत्प्रेक्षा का लक्षण विशेषरूप से सहायक होता है। उपमा का प्राण सादृश्य है और उत्प्रेक्षा का प्राण सम्भावना है। सादृश्यस्थल में उपमानरूप अर्थ की वास्तविक सत्ता होनी चाहिए। सम्भावना में उपमान कल्पित होता है।

उत्प्रेक्षावाचक शब्द निम्न हैं–

मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।
उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः।।

मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः नूनं ये उत्प्रेक्षावाचक शब्द हैं। इनका प्रयोग उपमा में नहीं होता है। इसलिए जहाँ इन शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ स्पष्टतः 'उत्प्रेक्षा' अलंकार समझ लेना चाहिए।

6.4 रूपक अलंकार

रूपयति एकतां नयतीति रूपकम् अर्थात् भिन्न–भिन्न प्रकट होने वाले उपमान तथा उपमेय में अभेद का आरोप ही रूपक है। यह अभेदारोप अत्यन्त साम्य के कारण होता है जैसे–'मुखं चन्द्रः' या 'मुख चन्द्र' में मुख और चन्द्र के भेद को नहीं छिपाया गया तथा दोनों के अभेद की कल्पना की गई है। रूपक के आवश्यक अंग हैं–(क) उपमान और उपमेय के भेद की स्पष्ट प्रतीति, (ख) दोनों में अत्यन्त साम्य के निमित्त से अभेद की कल्पना। रूपक का लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं–

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

अर्थात् उपमान और उपमेय का (जिनका भेद प्रसिद्ध है उनका सादृश्यातिवश) जो अभेद वर्णन है वह रूपक अलंकार कहलाता है। भाव यह है कि जिन उपमान तथा उपमेय का भेद (वैधर्म्य) प्रकट (अनपह्नुत) है, उनमें अत्यन्त साम्य के कारण अभेद का आरोप करना रूपक है।

प्रथमतः रूपक के तीन प्रकार हैं–(क) सांग (ख) निरंग और (ग) परम्परित। सांग रूपक भी दो प्रकार का है–समस्तवस्तु– विषयक, एकदेशविवर्ति। निरंग के भी दो भेद हैं–शुद्ध और मालारूप। परम्परित के श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट रूप से प्रथमतः दो भेद हैं, फिर इनमें से प्रत्येक के शुद्ध और मालारूप में दो–दो भेद होकर चार भेद हो जाते हैं। इस प्रकार रूपक के आठ प्रकार हैं। जिनका विवेचन क्रमशः इस प्रकार है।

सांगरूपक का उदाहरण–

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धांजनपरिमलं लांछनस्यच्छलेन।।

अर्थात् चाँदनीरूप भस्म से व्याप्त होने के कारण धवलवर्ण, तारिकारूप अस्थियों को धारण किये हुए और अन्तर्ध्यान (सब वस्तुओं को छिपा लेने) के व्यसन की रसिका, यह रात्रिरूप कापालिकी चन्द्रकलारूप कपाल में कलंक के बहाने से सिद्धांजन चूर्ण को रखे हुए द्वीप–द्वीपान्तरों में घूमती–फिरती है।

प्रस्तुत उदाहरण में रात्रि के उपर कापालिकी का आरोप किया गया है। वही प्रधान रूपक है। उसके उपपादन के लिए अंगरूप में ज्योत्स्ना पर भस्म का, तारकों पर अस्थि का, चन्द्रमा पर कपाल का और लांछन पर सिद्धांजन परिमल का आरोप किया गया है। ये सब अंगभूत रूपक हैं। यह समस्तवस्तुविषय सांगरूपक का उदाहरण है।

निरंग रूपक का उदाहरण–

कुरंगीवांगानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम्।।

अर्थात् यह किशोरी नायिका गाने की आवाज सुनने पर हरिणी के समान अंगों को निश्चल कर लेती है, प्रियतम के एक बार सुने हुए समाचार को भी सखी से बार–बार पूछती है और बिना नींद के भी भीतर (एकान्त में) लेटी रहती है। इससे मैं समझती हूँ कि कामदेव ने इसके हृदय में नयी प्रेमलता को सींचना प्रारम्भ कर दिया है, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है।

प्रस्तुत उदाहरण में प्रेम के ऊपर तालिका का आरोप किया गया है इसलिए रूपक है। उसके अंगरूप में और कोई रूपक नहीं आया है। इसलिए यह निरंग रूपक का उदाहरण है।

परम्परित रूपक का उदाहरण–

आलानं जयकुंजरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन्! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः।।

अर्थात् हे राजन्! शत्रुओं की स्त्रियों को वैधव्य–प्रदान करने वाला अर्थात् शत्रुओं का नाश करने वाला आपका बाहु विजयरूप हाथी का बन्धनस्तम्भ आलान है, विपत्तिरूप सागर को पार करने के लिए पत्थरों का बना (पक्का) पुल है, तलवार के प्रचण्ड तेजरूप सूर्य का उदयाचल, लक्ष्मी के आराम करने का तकिया, संग्रामरूप अमृत के सागर का मंथन करने की क्रीडा में मन्दराचलरूप शोभित हो रहा है।

यहाँ अलग–अलग शब्दों से वाच्य जयादि पर कुंजरत्वादि का आरोप होने पर भुजा पर आलान आदि का आरोप बनता है। इसलिए यह परम्परित रूपक है।

6.5 अपह्नुति अलंकार

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः।

अर्थात् प्रकृत (उपमेय) का निषेध करके जो अन्य अर्थात् उपमान की सिद्धि की जाती है वह अपह्नुति अलंकार कहलाता है। उपमेय को असत्य सिद्ध करके उपमान को ही सत्यरूप से जो स्थापित किया जाता है वह तो अपह्नुति होती है। यह अपह्नुति भी शाब्दी तथा आर्थी के भेद से दो प्रकार की होती है। जहाँ प्रकृत का निषेध शब्दतः किया जाता है वह शाब्दी अपह्नुति कहलाती है। आर्थी अपह्नुति में प्रकृत का निषेध करने के लिए कहीं कपटार्थक कहीं परिमाणार्थक शब्दों का ग्रहण किया जाता है। और कहीं अन्य उपायों का भी अवलम्बन किया जाता है। उनमें से पहले शाब्दी अपह्नुति का उदाहरण देते हैं–

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरूचः षैलतनये!
कलंको नैवायं विलसति षशांकस्य वपुषि।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता षेते रजनिरमणी गाढमुरसि।।

अर्थात् हे पार्वति (शैलतनये)! परिपूर्ण चन्द्रमा के शरीर अर्थात् वक्षःस्थल में प्रगल्भता को प्राप्त अत्यन्त प्रौढ़ यह कलंक नहीं दिखलाई देता है, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि इसके अमृत के प्रवाह के शीतल वक्षःस्थल पर रति से परिश्रान्त हुई रात्रिरमणी सो रही है।

यहाँ उपमेय भूत कलंक का निषेध करने उपमानभूत रात्रि की स्थापना की गयी है, इसलिए यह अपह्नुति अलंकार है। इसमें भी 'कलंको नैवायं' कहकर शब्दतः उपमेय का निषेध होने से यह शाब्दी अपह्नुति है।

यहाँ प्रकृत का निषेध शब्दतः नहीं होता अपितु अर्थतः आक्षिप्त होता है, वहाँ आर्थी अपह्नुति होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आर्थी अपह्नुति में कभी कपटार्थक शब्द के प्रयोग द्वारा और कभी परिमाणार्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा प्रकृत के निषेध का बोधन किया जाता है।

कपटार्थक शब्द के प्रयोग द्वारा आर्थी अपह्नुति का उदाहरण–

बत सखि! कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथा हि।
उपवनसहकारोद्भासिभृंगच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टंकितं कालकूटम्।।

अर्थात् हाय सखि, देखो तो प्रिय के विरह से दुबले हुए रागी लोगों के प्रति कामदेव का यह कितना वैरभाव है कि बगीचे के आम के बौरों पर बैठे हुए शोभित भौरों के बहाने से इसने अपने प्रत्येक बाण पर कालकूट विष लगा दिया है। यहाँ यह भौरों से युक्त आम के बौर नहीं है अपित काल कूट विषसहित कामदेव के बाण हैं यह प्रतीति

होती है। इस प्रकार भ्रमरयुक्त सहकारों के बौरों का निषेध करके कालकूटयुक्त बाणों की स्थापना से यह आर्थी अपह्नुति का उदाहरण है।

6.6 दृष्टान्त अलंकार

प्रिय–छात्रों! दृष्टान्त–अलंकार को गम्य–औपम्याश्रित अलंकार माना जाता है। उसका लक्षण इस प्रकार है–

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्।

'एतेषां' इस पद से पूर्व में वर्णित प्रतिवस्तूपमा अलंकार से उपमान, उपमेय, साधारण धर्म आदि का ग्रहण किया जाता है। **'दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः।'** अर्थात् जहाँ दृष्टान्त–वाक्य के द्वारा दार्ष्टान्तिक वाक्य के अर्थ का निश्चय देखा जाय वहाँ दृष्टान्तालंकार होता है। प्रस्तुत का भाव यही है कि– उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और साधारण धर्म आदि सबके भिन्न होते हुए भी औपम्य के प्रतिपादनार्थ उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्य में पृथगुपादानरूप बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने पर दृष्टान्तलंकार होता है। आचार्य मम्मट दृष्टान्त अलंकार के साधर्म्य व वैधर्म्य के भेद से दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः।।

अर्थात् नायक को देखते ही उस नायिका का काम से सन्तप्त हृदय शान्त हो जाता है, इसके लिए दृष्टान्त देते हैं, जैसे चन्द्रमा को देखकर कुमुदिनी का फूल खिल उठता है। यहाँ नायक तथा चन्द्रमा का, नायिका तथा कुमुदिनी का और मन तथा कुसुम का, मनोभवसन्तप्तत्व तथा सूर्यसन्तप्तत्व का निर्वाण तथा विकास का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्तलंकार है। यह साधर्म्य से दृष्टान्तलंकार का उदाहरण है। अब वैधर्म्य से दृष्टान्तलंकार का उदाहरण देते हैं–

तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करं कृपाणान्तिकमानिनीषतः।
भटाः परेषां विशरारूतामगुः दधत्यवाते स्थिरतां हि पासवः।।

अर्थात् हे राजन्! साहसपूर्ण कामों में आनन्द प्राप्त करने वाले तुम्हारे तलवार की ओर हाथ बढ़ाते ही शत्रुओं के सैनिक तितर–बितर हो गये (भाग खड़े हुए) वायु न चलने पर ही धूल स्थिर रहती है (आँधी आने पर धूल नहीं टिक सकती है)।

प्रस्तुत पद्य में धूल तथा शत्रु–सैनिकों का और पलायन एवं अस्थिरत्व का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। 'पांसवः अवाते स्थिरतां दधति' इसका 'वाते स्थिरतां न दधति' इस रूप में पर्यवसान होने से यह वैधर्म्य से दृष्टान्तालंकार का उदाहरण है।

6.7 दीपक अलंकार

दृष्टान्तलंकार के बाद दीपकालंकार का निरूपण करते हैं। प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना आदि के समान दीपकालंकार भी 'गम्य–औपम्याश्रित' अलंकार है। यह दीपकालंकार दो प्रकार का होता है, एक क्रियादीपक और दूसरा कारकदीपक। दोनों के लक्षण एक ही कारिका में करते हैं–

सकृद्‌वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्।।

अर्थात् प्रकृत (प्राकरणिक अथवा उपमेय) तथा अप्रकृत (अप्राकरणिक अथवा उपमान) के क्रियादिरूप धर्मों का एक ही बार ग्रहण किया जाय अर्थात् जहाँ एक ही क्रियादीपक धर्म का अनेक कारकों के साथ सम्बन्ध हो वहाँ क्रियादीपक नामक दीपक का एक भेद होता है। इसी प्रकार बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक का ग्रहण यह दीपक अलंकार का दूसरा भेद अर्थात् कारकदीपक होता है। भाव यह है कि प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थात् उपमान तथा उपमेय का क्रियादिरूप धर्म जो एक ही बार ग्रहण किया जाता है वह जैसे दरवाजे की देहली पर रखा हुआ दीपक कमरे के बाहर और भीतर दोनों जगह प्रकाश करता है उसी प्रकार वाक्य में केवल एक जगह ग्रहण किया गया क्रियादिरूप धर्म अनेक कारकों के साथ सम्बद्ध होकर देहलीदीपकन्याय से एक जगह स्थित भी समस्त वाक्य का दीपक होने से अनेक कारकों के साथ एक क्रिया का सम्बन्ध होने पर प्रथम प्रकार का दीपकालंकार होता है।

क्रियादीपक का उदाहरण–

कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम्।।

अर्थात् कृपणों के धन, सर्पों की मणि, सिंहों के केसर और कुलीन बालिकाओं के स्तनों को उनके जीवित रहते कैसे छुआ जा सकता है।

यहाँ 'स्पृश्यन्ते' यह एक ही क्रियापद है। उसके ही साथ धन, फणमणि, केसर और स्तन आदि अनेक कारकों का सम्बन्ध होने से यह श्लोक 'क्रियादीपक' का उदाहरण है। इसमें वर्णनीय होने से कुलबालिकाओं के स्तन प्रकृत हैं और उपमेयरूप हैं। कृपणों का धन, नागों की मणि, सिंहों के केसर ये सब अवर्ण्य होने से अप्रकृत हैं और उपमानरूप में प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार बहुत–सी क्रियाओं में एक बार कारक का ग्रहण अर्थात् अनेक क्रियाओं के साथ एक कारक का सम्बन्ध होने पर कारकदीपक नामक दूसरे प्रकार का दीपक अलंकार होता है। जैसे–

स्विद्यति कूणति,वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक्।
अन्तर्नदति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः षयने।।

अर्थात् नवोढा वधू पति के आते ही पसीने से तर हो जाती है, पति के आलिंगन करने के लिए उद्यत होने पर संकुचित हो उठती है, पति के न मानने पर आलिंगनपाश से बचने के लिए सिकुड़ जाती है या मुंह फेर लेती है, करवट बदल लेती है, आँखें बन्द कर लेती है परन्तु उत्सुकतावश तिरछी आँखों से देखती है, मन में प्रसन्न होती है और चुम्बन करना चाहती है। यहाँ स्विद्यति, कूणति आदि आठ क्रियाएँ इस वाक्य में आयी हैं, परन्तु उन सबके साथ कर्तारूप में केवल 'नवपरिणया वधूः' इस एक ही कर्तृपद का प्रयोग किया गया है। इसलिए यह कारकदीपक नामक दीपकालंकार के दूसरे भेद का उदाहरण है।

6.8 विभावना अलंकार

प्रिय विद्यार्थियों! विभावना अलंकार 'विरोधमूलक अलंकारों' में परिगणित है। उसका लक्षण हैं–

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।

'क्रियतेऽनया इति क्रिया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ क्रिया शब्द कारण का बोधक है। इस कारण का अभाव या निषेध होने पर भी फल का उत्पत्ति का वर्णन होने पर विभावना अलंकार होता है। भाव यह है कि हेतुरूप क्रिया अर्थात् कारण का निषेध अथवा अभाव होने पर भी फल की उत्पत्ति विभावना अलंकार कहलाता है। जैसे–

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रूजमलिकुलैरदष्टापि।
परिवर्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताप्यघूर्णत सा।।

अर्थात् खिली हुई लताओं से ताडित न होने पर भी वह नायिका पीड़ा को प्राप्त हो रही थी, भ्रमर कुल से न काटे जाने पर भी तड़प रही थी और कमलनियों से युक्त लहरों के चक्कर में पड़े बिना भी चक्कर खा रही थी।

यहाँ लताओं की चोट पीड़ा का हेतु हो सकती थी, भ्रमर का काटना तड़पने का और कमलिनियों की लहरों के चक्कर में फंस जाना न आने का कारण हो सकता था। परन्तु उन कारणों का निषेध करने पर भी कार्य का प्रकाशन किया गया है। इसलिए यह विभावनालंकार का उदाहरण है।

6.9 विशेषोक्ति अलंकार

यह विशेषोक्ति अलंकार भी विरोधमूलक अलंकार माना गया है, उसका लक्षण देते हैं–

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।

अर्थात् सम्पूर्ण कारणों के होने पर फल का न कहना विशेषोक्ति है। तात्पर्य यह है कि प्रसिद्ध कारणों के एकत्र होने पर भी कार्य का कथन न करना विशेषोक्ति अलंकार होता है। यह विशेषोक्ति 1. अनुक्तनिमित्ता, 2. उक्तनिमित्ता, 3. अचिन्त्यनिमित्ता इस तरह तीन प्रकार की होती है। क्रम से तीनों के उदाहरण –

1. **निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते।**

   श्लथीकृताश्लेषरसे भुजंगे चचाल नालिंगनतोऽङ्गना सा।।

   अर्थात् निद्रा खुल जाने पर, सूर्य का उदय हो आने पर, सखियों के शयनकक्ष के दरवाजे पर आ जाने पर और उपपति (भुजंग) के आलिंगन के रस को त्याग देने पर भी वह आलिंगन से विचलित नहीं हुई।

   यहाँ निद्रानिवृत्ति, सूर्य का उदय हो जाना तथा सखियों का घर के द्वार पर आ जाना सब आलिंगन परित्याग के कारण उपस्थित हैं, परन्तु नायिका आलिंगन का परित्याग नहीं कर रही है। इसलिए कारण के होने पर भी कार्य के न होने से विशेषोक्ति अलंकार है। और उसका निमित्त नहीं बतलाया गया है इसलिए यह अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है।

अर्थालंकार—वक्रोक्ति,
उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक,
अपह्नुति, दृष्टान्त,
दीपक, विभावना,
विशेषोक्ति,
अर्थान्तरन्यास,
परिसंख्या, भ्रान्तिमान

2. **कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।**

नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे।।

अर्थात् जो कामदेव कपूर के समान भस्म हो जाने पर भी जन–जन में शक्तिमान् हो गया है, उस अप्रत्याहत पराक्रम वाले कामदेव को नमस्कार है।

यहाँ भस्म हो जाना शक्तिक्षय का कारण है। उसके विद्यमान होने पर भी कामदेव की शक्ति का क्षय नहीं हुआ है। यहाँ कारण के होने पर भी कार्य के न होने से विशेषोक्ति अलंकार है। परन्तु यहाँ उसका कारण या निमित्त 'अवार्यवीर्यत्व' कहा हुआ है। अतः यह उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है।

3. **स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।**

हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम्।।

अर्थात् फूलों के अस्त्र धारण करने वाला वह कामदेव अकेला ही तीनों लोकों को पराजित कर देता है, जिसके शरीर का अपहरण करके भी शिवजी उसकी शक्ति का विनाश नहीं कर पाये।

यहाँ तनुहरण करते हुए भी शिव ने कामदेव का बलनाश क्यों नहीं किया–इसके हेतु का विचार नहीं किया जा सकता यह तो केवल शास्त्र–गम्य है अतः अचिन्त्य है। यह अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है।

6.10 अर्थान्तरन्यास अलंकार

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।।

अर्थात् सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा अथवा विशेष का सामान्य के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलंकार साधर्म्य तथा वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है।

साधर्म्य या वैधर्म्य से (1) सामान्य का विशेष से समर्थन (2) विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलंकार 4 प्रकार का होता है। क्रमशः उन चारों भेदों के उदाहरण आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में दिए हैं।

साधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण–

निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम्।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शंखमपि पीतम्।।

अपने ही दोष से जिनका मन व्याप्त हो रहा है। उनको अत्यन्त सुन्दर वस्तु भी (विपरीत) बुरी जान पड़ती है। पित्त से पीड़ित (पाण्डु या कमला रोग से ग्रस्त पुरुष) को चन्द्रमा के समान शुभ्र शंख भी पीला दिखलाई देता है। यहाँ 'अपने मन में दोष होने पर अच्छी बात भी बुरी मालूम होती है' इस सामान्य सिद्धान्त का समर्थन 'पीलिया रोग के रोगी को शंख भी पीला दिखाई देता है' इस विशेष उदाहरण के द्वारा किया गया है। इसलिए यह साधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण है।

6.11 परिसंख्या अलंकार

विद्यार्थियों! जिस प्रकार अनुमान अलंकार न्याय–दर्शन के प्रतिपाद्य अनुमान प्रमाण के आधार पर बनाया गया है, उसी प्रकार परिसंख्या अलंकार का आधार मीमांसा दर्शन के परिसंख्याविधि को माना जा सकता है। मीमांसादर्शन में विधि के तीन भेद किए हैं–1. सामान्यविधि, 2. नियमविधि, 3. परिसंख्या विधि। इनमें जहाँ दोनों की युगपत् प्राप्ति हो वहाँ उनमें से एक का निषेध करने वाली परिसंख्याविधि कहलाती है। वैसे परिसंख्या का स्वरूप तो विधिपरक होता है परन्तु उसका फलितार्थ अन्य के निषेध में होता है। जैसे–'पंच–पंचरखाः भक्ष्याः' यह वाक्य देखने में भक्ष्यता का विधान कर रहा है पर उसका आशय भक्षण के विधान में नहीं अपितु **'पंच पंचनखव्यतिरिक्ता अभक्ष्याः'** पाँच पंचनखों से अतिरिक्त के भक्षण का निषेध करने में हैं। इसी आधार पर यहाँ परिसंख्या अलंकार का निरूपण किया गया है। इस परिसंख्या अलंकार में भी कहीं हुई बात का फलितार्थ अन्य का निषेध करने में होता है। वह अन्य का निषेध कहीं प्रश्नपूर्वक और कहीं अप्रश्नपूर्वक दो प्रकार से हो सकता है और जिस वस्तु का निषेध किया जा रहा है वह भी कहीं वाच्यरूप और कहीं व्यंग्यरूप से दो प्रकार की हो सकती है। इस प्रकार परिसंख्या के चार भेद हो जाते हैं। परिसंख्या अलंकार का लक्षण है–

किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता।।

अर्थात् कोई पूछी गई या बिना पूछी हुई कही गयी बात जो उसी प्रकार की अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होती है वह परिसंख्या कहलाती है।

प्रश्नपूर्वक प्रतीयमानव्यवच्छेद्य परिसंख्या का उदाहरण–

किमासेव्यं पुंसां? सविधमनवद्यं द्युसरितः।
किमेकान्ते ध्येयं? चरणयुगलं कौस्तुभभृतः।।
किमाराध्यं? पुण्यं किमभिलषणीयं? च करुणा।
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति।।

अर्थात् मनुष्य को किसका सेवन करना चाहिए? यह प्रश्न है, इसका उत्तर देते हैं कि गंगा के उत्तम तट का अर्थात् अन्य नदियों के तट अथवा स्त्रीनितम्बादि का सेवन नहीं करना चाहिए। एकान्त में किसका ध्यान करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर है कि कौस्तुभधारी श्रीकृष्ण भगवान् के चरणयुगल का ध्यान करना चाहिए अन्य किसी देव का या स्त्री आदि का ध्यान नहीं करना चाहिए। किसकी आराधना करनी चाहिए? इसका उत्तर है पुण्य की और फलितार्थ है–पाप की नहीं। और किसकी कामना करनी चाहिए? इसका उत्तर है कि करुणा की और फलितार्थ है अन्य हिंसादि की कामना नहीं करनी चाहिए। जिन द्युसरित् आदि के प्रेम से चित्त सदा के लिए मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है।

प्रस्तुत पद्य में गंगातट, विष्णु के चरणयुगल आदि का सेव्यत्व पुराणादि में प्रसिद्ध ही है इसलिए उनके सेव्यत्व का प्रतिपादन करना इस पद्य का प्रयोजन नहीं है अपितु उनसे भिन्न स्त्रीनितम्बादि अन्य सांसारिक वस्तुओं की सेव्यता का निषेध करने के लिए इसकी रचना हुई है। इसलिए यह प्रश्नपूर्विका प्रतीयमानव्यंग्यव्यवव्छेद्य परिसंख्या अलंकार का उदाहरण है।

6.12 भ्रान्तिमान्–अलंकार

अन्य अप्राकरणिक वस्तु के समान प्राकरणिक वस्तु के देखने पर जो अन्य वस्तु के देखने पर जो अन्य वस्तु अप्राकरणिक अर्थ का भान होता है वह भ्रान्तिमान् अलंकार कहलाता है। इसका लक्षण है–

भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने।

कारिका में आए हुए 'तत्' इस पद से 'अन्य' अर्थात् 'अप्राकरणिक' का निर्देश किया गया है। उसके समान अर्थात् प्राकरणिक का यहाँ ग्रहण किया जाता है। उस प्रकार की उस अप्राकरणिक के सदृश प्राकरणिक वस्तु के देखने पर जो उस प्राकरणिक वस्तु की अप्राकरणिक रूप से प्रतीति है वह भ्रान्तिमान् अलंकार कहलाता है।

इसके उदाहरण के रूप में महाकवि भास चन्द्रमा की निर्मल चाँदनी का सौन्दर्य प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि–

कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः
तरूच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति।।

अर्थात् खप्पर में पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणों को यह दूध है ऐसा समझकर बिल्ली चाट रही है। वृक्ष के छिद्रों पत्तों के बीच में से निकलती हुई किरणों को हाथी मृणालदण्ड समझ लेता है। स्त्री सुरतसम्भोग के बाद पलंग पर फैली हुई किरणों को यह शुभ्र वस्त्र है यह समझकर समेटनी लगती है। इस प्रकार प्रभा से मत्त चन्द्रमा इस संसार को भ्रम में डाल रहा है यह बड़े आश्चर्य की बात है।

यहाँ 'कपाले' इत्यादि में शुभ्रता के कारण अप्रस्तुत दुग्ध आदि के तुल्य प्रस्तुत चन्द्रकिरणों को देखकर मार्जार इत्यादि की दुग्ध–भ्रान्ति का वर्णन किया गया है अतः 'भ्रान्तिमान् अलंकार' है। इसे भ्रम अलंकार भी कहा जाता है।

इस तरह उपमा आदि इन 11 अर्थालंकारों की चर्चा इस अंक में की गई।

6.13 सारांश

उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा–अलंकार कहलाता है। वह उपमा पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा के भेद से दो प्रकार की होती है। उपमेय की उपमान के साथ सम्भावना अर्थात् उत्कटैककोटिक सन्देह उत्प्रेक्षा कहलाती है और भिन्न–भिन्न प्रकट होने वाले उपमान तथा उपमेय में अभेद का आरोप ही रूपक है। यह अभेदारोप अत्यन्त साम्य के कारण होता है। सांग, निरंग तथा परम्परित के भेद से रूपक के तीन मुख्य प्रकार हैं। और जहाँ उपमेय का निषेध करके जो अन्य अर्थात् उपमान की सिद्धि की जाती है वह अपह्नुति अलंकार कहलाता है। यह अपह्नुति शाब्दी तथा आर्थी के भेद से दो प्रकार की होती है। जहाँ दृष्टान्त–वाक्य के द्वारा दार्ष्टान्तिक वाक्य के अर्थ का निश्चय देखा जाय वहाँ दृष्टान्त–अलंकार होता है। दृष्टान्त अलंकार के बाद दीपक अलंकार का निरूपण किया गया है। प्रकृत (उपमेय) तथा अप्रकृत (उपमान) के क्रियादिरूप धर्मों का एक ही बार ग्रहण किया जाय अर्थात् जहाँ एक ही धर्म का अनेक कारकों के साथ सम्बन्ध हो दीपक अलंकार होता है। यह

दीपकालंकार दो प्रकार से बताया गया, एक क्रियादीपक और दूसरा कारकदीपक। इसके अनन्तर दो विरोधमूलक अलंकार विभावना तथा विशेषोक्ति अलंकार का भी निरूपण किया गया। तत्पश्चात् अर्थान्तरन्यास अलंकार की भी व्याख्या की गई। सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा अथवा विशेष का सामान्य के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलंकार कहलाता है। इसके अलावा परिसंख्या एवं भ्रान्तिमान् अलंकार सहित ग्यारह अलंकारों की सभेद चर्चा इस इकाई में की गई।

6.14 शब्दावली

1. सरसिजम् = कमल, पंकज
2. सुरतरुः = देववृक्ष
3. निदाघः = ग्रीष्म, उष्ण, तप
4. समेन = उपमान से
5. इन्दीवरः = नीलकमल
6. ज्योत्स्ना = चद्रिका
7. कुरंगी = हरिणी
8. कालकूटः = विष
9. द्युरत्नम् = सूर्य, भानु, भाष्कर, दिनकर
10. मकरकेतुः = कामदेव
11. मार्जारः = बिल्ली

6.15 बोध प्रश्न

1. उपमा–अलंकार का सभेद निरूपण करें।
2. उत्प्रेक्षा–अलंकार की सोदाहरण व्याख्या करें।
3. रूपक अलंकार का सभेद निरूपण करें।
4. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
   यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासो साधर्म्येणेतरेण वा।।
   इस कारिका की सोदाहरण व्याख्या करें।
5. विभावना एवं विशेषोक्ति अलंकार की सोदाहरण व्याख्या करें।

6.16 उपयोगी पुस्तकें

अमरकोश – अमरसिंह

अलंकारसर्वस्व – रूय्यक

काव्यप्रकाश – नागेश्वरी टीका